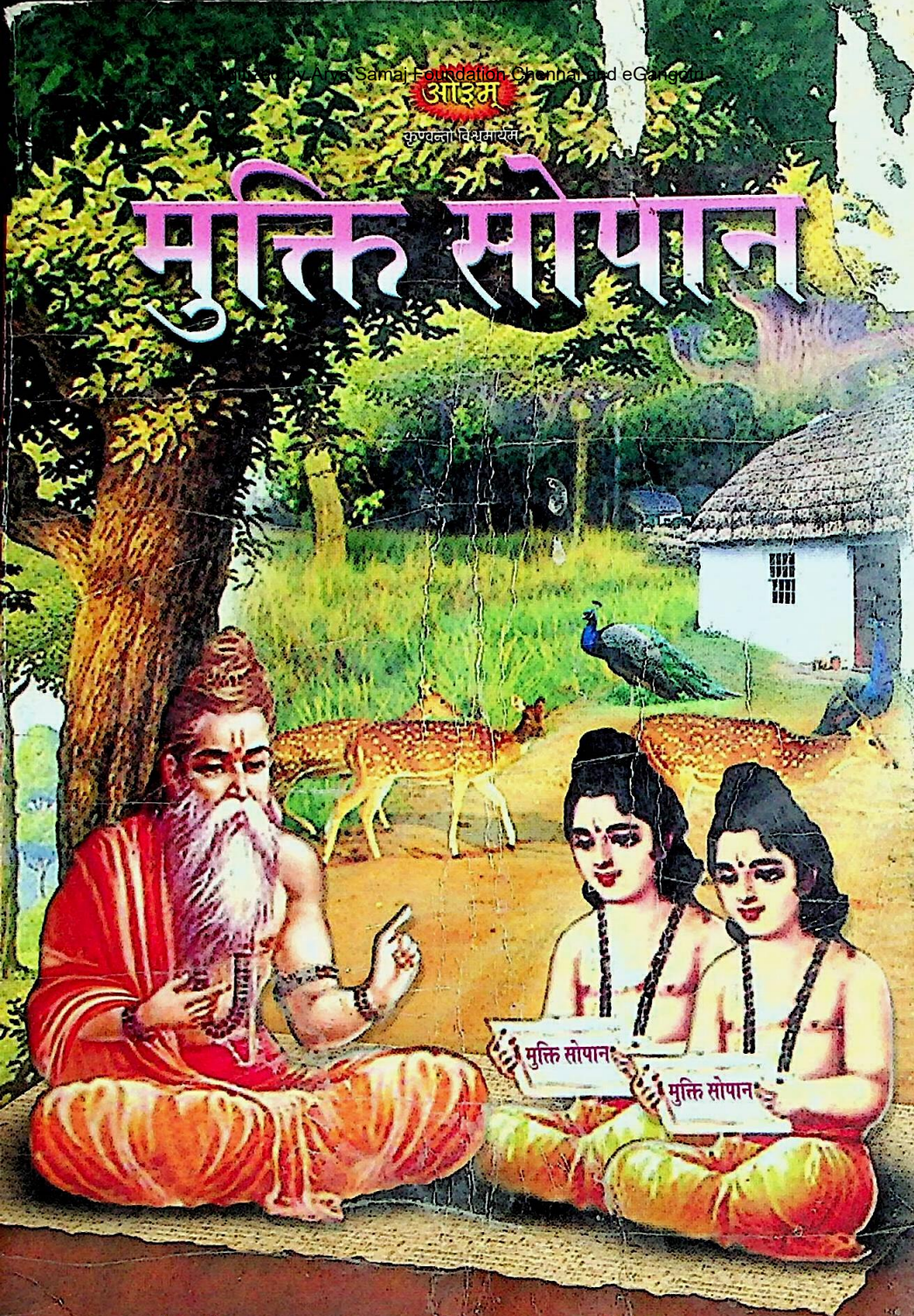


Digitized by Anus Samaj Foundation, Chennai and eGangotri

आश्रम

सुप्रसन्न विद्यालय

मुक्ति सोपान



पं० देवनाभयण तिवारी "निर्भीक"

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri and Anus Samaj Foundation

२३

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्ति साधन

॥ ओ३म् ॥

मुक्ति-सोपान

संस्कृत-संज्ञा

॥ ओ३म् ॥

मुक्ति-सोपान

रचयिता :

पं० देव नाथायण तिवारी

प्रकाशक :

हरप्रसाद चन्द्रकला देवी जन कल्याण ट्रस्ट
ग्राम + पो०—डेहरियावाँ, जिला—फैजाबाद, उ०प्र०—२२४२०७

प्रकाशक :

डॉ० देवकान्त तिवारी

हरप्रसाद चन्द्रकला देवी जन कल्याण ट्रस्ट

मोबाइल : ९००५९७८६५५

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

आर्य समाज कलकत्ता

१९, विधान सरणी, कोलकाता—७०० ००६

दूरभाष : ०३३-२२४१३४३९

मोबाइल : ०९८३०४२०४९६ (लेखक)

एवं

श्री देव कान्त तिवारी

ग्राम + पत्रालय—डेहरियावाँ, जनपद—फैजाबाद

उत्तर प्रदेश—२२४२०७

दूरभाष : ०५२७०-२८३३४४

मोबाइल : ०९४५३६५८०९३, ०९००५९७८६५५

तथा

आचार्य शिवदत्त पाण्डेय

वेद वेदाङ्ग विद्यापीठ गुरुकुल आश्रम, धनपतगंज, सुलतानपुर

पोस्ट : अतरसुमा, उत्तर प्रदेश—२२८१२१

मोबाइल : ०९४५०७८३३३७

सर्वाधिकार सुरक्षित © देवनारायण तिवारी

प्रथम संस्करण, अप्रैल २०११ ई०

₹ ६० रुपया

मुद्रक :

प्राण आर्ट प्रेस

३२ए, कैलाश बोस स्ट्रीट

कोलकाता—७०० ००६

मोबाईल : ९८३१२४२१८२

॥ ओ३म् ॥

भूमिका

प्रत्येक जीवात्मा दुःखों से मुक्त होना चाहता है । इसीलिए यथाशक्ति सुख प्राप्त करने में सदैव प्रयत्नशील रहता है । किन्तु जिन कर्मों को सुखों का साधन मान कर करता है उसमें ही नाना प्रकार के कुकर्म होते रहते हैं और अल्पज्ञता के कारण मानव उन्हें समझ नहीं पाता या समझता हुआ भी उनसे विमुक्त नहीं हो पाता, यही बिडम्बना है । किन्तु ध्यान से देखा जाय तो उसके मूल कारण में क्लेशों की जननी अविद्या बैठी रहती है और उसी के पाश में बंधा जीव न उसे छोड़ता है, न दुःखों से मुक्त हो पाता है । मोक्षाकांक्षी जन यह नहीं जान पाते कि इन विश्व भोगों में आसक्त रहते हुए वह दुःख-पाश कभी छूटेगा नहीं, अर्थात् उससे मुक्त होने के लिए ब्रह्माण्ड-पति-कर्म-फल दाता परमात्मा की शरण आवश्यक है । सुखों की पूर्ण सिद्धि ब्रह्म विद्या के बिना सम्भव नहीं है । शोक रूपी सरिता को पार करने के लिए ब्रह्म-ज्ञान नाव आवश्यक है, और एक मात्र वेदों से ही जानने योग्य है । अन्य लौकिक अर्थात् वेद विरोधी ग्रन्थों से वह कदापि नहीं जाना जा सकता ।

श्रुतियों में जिस प्रापणीय परमेश्वर का प्रतिपादन है; उसकी उपासना मात्र ज्ञान काण्ड के आधार पर ही हो सकती है और उसका विषय मुख्यतः उपनिषदों में ऋषियों ने प्रतिपादित किया है ।

कैवल्य प्राप्ति का मुख्य साधन योग है, अष्टाङ्ग योग की साधना द्वारा योगी जब अपने आत्मा को निर्मल कर देता है तब चित्त की धारणा शक्ति खिलती है, उसके उपरान्त ही ध्यान और समाधि द्वारा परमेश्वर का साक्षात्कार होता है । किन्तु सर्वसाधारण के लिए यह मार्ग अगम्य है, परन्तु त्याजनीय नहीं, सतत् प्रयास रत रहकर कोई भी ज्ञानी उस स्तर तक नहीं तो भी उस सोपान पर अवश्य चढ़ सकता

है । सम्भवतः तब धीरे-धीरे उन्नति का मार्ग प्रशस्त होने लगता है । कालान्तर में साधक अवश्य ही सिद्धियों को प्राप्त करने लगता है । यदि दीर्घ काल पर्यन्त भी सिद्धि नहीं मिलती तो वह मार्ग त्याज्य नहीं है और धैर्य पूर्वक उस पर चलते रहने से कभी न कभी वहाँ तक पहुँच सकता है, भले ही सिद्धि एक या दो जन्मों में न हो किन्तु वह कर्म व्यर्थ नहीं जाता ।

उपासक जिस प्रकार जिस उपास्य की उपासना करता है वैसा ही गुण-धर्म उपासक में स्वतः आने लगता है । इसलिए ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान मानकर श्रद्धा भक्ति से उसी की उपासना करनी चाहिए । निदान इसी दृष्टि कोण से ऋषियों ने उपनिषदों की रचना की । उपनिषदें ग्यारह हैं — १ = ईश (वाजसनेयी), २ = केन (तलवकार), ३ = कठ, ४ = प्रश्न, ५ = मुण्डक, ६ = माण्डूक्य, ७ = तैत्तिरीय, ८ = ऐतरेय, ९ = छान्दोग्य, १० = गृह्यारण्यक, और ११ = श्वेताश्वतर ।

ईशोपनिषद् मूल यजुर्वेद संहिता के अन्तर्गत समझी जाती है । यजुर्वेद में ४० अध्याय हैं । उसी का ४०वाँ अध्याय अल्प पाठ भेद से १७ मन्त्रों वाला ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी ईशोपनिषद् है । मुख्यतः कर्मकाण्ड के यथोक्त कर्म के अनुष्ठान से जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, जिसने गृहस्थादि आश्रमों के सुख भोग लिए हों तथा ऋषि, देव और पितृ सम्बन्धी तीनों ऋण, तीनों आश्रमों के यथावत् अनुष्ठान से चुका दिये हैं वे इन मन्त्रों के ज्ञान के अनुसार ईश्वर उपासना करके मोक्ष-मार्ग प्रशस्त करें ।

केनोपनिषद् सामवेदीय तलवकार उपनिषद् है इसी प्रकार अन्य उपनिषदें भी कोई ब्राह्मण भागों के अन्तर्गत, कोई शाखाओं के अन्तर्गत हैं । उन-उन वेद की शाखा एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में जो-जो भाग वेद से ही जानने योग्य परमेश्वर के स्वरूप का निरूपण करने वाला है, वह-वह उपनिषद् कहाता है । उनमें केनोपनिषद् तलवकार शाखा के अन्तर्गत है । सामवेद की एक हजार शाखाओं में से यह तलवकार एक शाखा है । इसमें कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का रूप है ।

एक गहन जिज्ञासा के साथ इस उपनिषद् का आरम्भ हुआ है

और उसी के अन्तर स्वरूप ऋषि ने ईश्वर का निरूपण किया है । परमात्मा को ही सर्व स्वामी के रूप में दर्शाया गया है । शेष प्राण-मन आदि अन्तःकरण प्राकृतिक हैं । जीवात्मा ईश्वर का ज्ञान करके ही मोक्ष का अधिकारी हो सकता है और कोई अन्य उपाय नहीं है । ब्रह्म-विद्या इसका मुख्य विषय है । जो पुरुष निश्चय करके इसमें कहे साधनों सहित ब्रह्म को जान लेता है, वह अनादि काल से सञ्चित अन्तःकरण की वासना रूप रस्सियों से बंधे हुये अज्ञानान्धकार पाप को नष्टकर अविनाशी और अपरिछन्न सुख स्वरूप सूक्ष्म बुद्धि एवं ज्ञान दृष्टि से देखने, जानने योग्य सबसे श्रेष्ठ परमात्मा में (सब बाधाओं से छूटकर) आनन्द पूर्वक अवश्य स्थित होता है ।

कठोपनिषद् यजुर्वेद की कठशाखा के अन्तर्गत मानी जाती है । कठ नाम के ऋषि विशेष हुए हैं उन्हीं की कही व्याख्यानमाला कठोपनिषद् कहाती है । वैसे तो सभी उपनिषदों का मुख्य प्रयोजन यही है कि मुमुक्षु जन दुःख संसार से वैराग्य द्वारा निर्भय होके, निर्मल, निर्विकार, शुद्ध-शान्त और आनन्द स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हों । इस उपनिषद् में एक एतिहासिक उपदेश के माध्यम से ऋषि ने जिज्ञासु भक्तों के लिए ब्रह्मविद्या का बड़ी उत्तमता से निरूपण किया है, कि जिससे परमात्मा के प्रति विशेष रुचि उत्पन्न हो और उसके स्वरूप, कार्य, क्षमता को जानकर उसकी उपासना करके मोक्ष के अधिकारी बनें । इतिहास की साक्षी से यह ज्ञात होता है कि संसार के वैभव साम्राज्यादि सुखों को तृणवत् तुच्छ समझ कर ब्रह्मज्ञान को सर्वोपरि समझ के उसी के लिए राजाओं, महाराजाओं ने भी प्रयत्न किया है । नचिकेता के पिता ने भी संसार को तुच्छ मानकर ही सर्ववेदस यज्ञ किया, जिसमें सर्वस्व दक्षिणा देकर संन्यासी हुए और इसी ब्रह्म-विद्या का सेवन करके ब्रह्मर्षिगण जो हमारे पूर्वज हैं (बृद्ध) वे परमधाम को प्राप्त होते आये हैं ।

इस उपनिषद् का पूर्ण आख्यान तो मैंने काव्यबद्ध नहीं किया, किन्तु किसी भी प्रकार का वर्णन काव्य में अधूरा भी नहीं छोड़ा, मुख्य-मुख्य भाव एवं सारांश पूर्णतः दर्शा दिया गया है । क्यों कि

मूल उपनिषदें जन साधारण के लिए कठिन हैं, अतः काव्यबद्ध करके उन्हें भाषा में मैने प्रस्तुत किया जिससे काव्य प्रेमी जन भी एवं सामान्य जन भी इससे परिचित हो सकें। काव्य अपने में स्वयं ही ब्रह्मानन्द सहोदर है और फिर उसमें यदि ब्रह्म विषय का ही प्रतिपादन हो तो कहना ही क्या ! यद्यपि काव्य रचना साधारण कार्य नहीं और फिर यदि अध्यात्म विद्या को काव्य में पिरोया जाय तो और भी कठिन हो जाता है। मैने यथा मति यथा शक्ति कोई कोर कसर नहीं छोड़ी। अब यह तो विद्वान् पाठकों पर निर्भर है कि इसको किस रूप में कितना धारण करेंगे। लेकिन आशा यही है कि सुधी विद्वज्जन अपनी कृपा से मुझे अवश्य कृतकृत्य करेंगे।

इस काव्य ग्रन्थ को पूर्ण अनुवाद तो नहीं कहा जा सकता, क्यों कि कहीं-कहीं वर्णन में कल्पना भी पिरोई गई है। लेकिन फिर भी वास्तविकता पर कोई हस्तक्षेप नहीं है।

सर्वप्रथम ईश्वर का आभार प्रकट करते हुए अपने पुण्य पुरुषों माता-पिता आदि गुरुजनों विद्वानों सभी के प्रति श्रद्धा प्रकट करता हूँ कि जिनकी कृपा अवदान से यह रचना सम्भव हुई। अन्यथा मेरी मति इतनी नहीं है। जिनका किसी भी प्रकार का रञ्चक मात्र भी सहयोग मुझे मिला है सबके प्रति मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ।

प्राण आर्ट प्रेस के स्वामी श्री स्वेताप सिंह को हार्दिक धन्यवाद है कि जिनकी सूझ-बूझ से पुस्तकों की छपाई का कार्य एवं आवरण सज्जा अति सुन्दर हुई है।

सबकी कृपा का पात्र और विद्वानों का सेवक

देवनारायण तिवारी

चैत्र पूर्णिमा महाराज विक्रमादित्य

का शुभ सम्वत् २०६८

१८ अप्रैल सन् २०११ ईसवीं

॥ ओ३म् ॥

शुभाशंसनम्

उपनिषद् ब्रह्मविद्या के आकर ग्रन्थ हैं। समस्त वेदों का मूलोद्देश्य ईश्वर प्राप्ति है। उस मूलभूत विषय को उपनिषदों में आख्यान शैली में अभिव्यक्त किया गया है। वेदों का सारभूत होने से ही इन्हें वेदान्त कहा गया है। उपनिषदों की महत्ता से न केवल भारतीय किन्तु वैदेशिक विद्वान् भी प्रभावित रहे हैं। अनेक विदेशी विद्वानों ने अपनी लेखनी औपनिषद् ग्रन्थों पर चलायी है। उपनिषद् ग्रन्थों ने अपने प्रति सबको नतमस्तक किया है।

वेदों का जो सार विषय करुणा वरुणालय ।

अगम अगोचर निर्विकार निर्भय व निरामय ।

जिसका वर्णन करने में वाणी थकती है ।

उपनिषदें सब उसी ब्रह्म को ही कहती हैं ॥

उपनिषद् शब्द उन, नि उपसर्ग पूर्वक षद्लृ विशरणगति, अवसादनेषु धातु से सिद्ध हुआ है। धात्वर्थ के अनुसार उपनिषद् का अर्थ है “जो जन्म-मृत्यु के बन्धनों को अवसादन = ढीला करके ब्रह्म की गति = ज्ञान, गमन और प्राप्ति कराके बन्धन = को काटकर जन्म-मृत्यु बार-बार पुनरागमन की विशरण = समापन करादे उसे उपनिषद् कहते हैं। उपनिषदों के पर्यालोचन से यह अर्थ सुतरां सुस्पष्ट हो जाता है। उपनिषद् कहती है —

“इस चेदवेददिथ सत्यमस्ति नो चेदिहा वेदीन्महती विनाष्टिः ।”

इसी मानव जन्म में उस ब्रह्म को जान लिया तो जीवन सफल है। यदि नहीं जाना तो महान् विनाश है। क्योंकि यह एक द्वार है जो मुक्ति की ओर को खुला हुआ है अन्य सब दरवाजे बन्द हैं। मानव शरीर से ही उस ब्रह्म को पाया जा सकता है अन्य भोग योनियों में उसकी ओर प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं है।

उपनिषदों में ही ब्रह्म का परिचय कराया गया है कि —

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

जिसे वाणी कह नहीं सकती किन्तु जिसके कारण वाणी कुछ कहने लायक हो पाती है वह ब्रह्म है तुम जिस प्रकृति कि उपासना में

रत हो वह ब्रह्म नहीं है । आख्यानो की रोचक शैली में ब्रह्मविद्या जैसे दुर्वोध विषय को सरस, सरल, हृदयावगाहिनी भाषा में अभिव्यक्ति देना ऋषियों का ही काम हो सकता है अन्य का नहीं । उन ऋषिप्रोक्त उपनिषदों पर ऋषिमनस्क एक कवि की कविता कामिनी अवतरित हुई है सुमनोहर आर्यभाषा हिन्दी के प्राञ्जल छन्दों के रूप में जिस देखकर मन अति हर्षित होता है । मैं आपको वञ्चित क्यों करूँ ? अकेला पढ़कर जानकर लोभी औ स्वार्थी क्यों कहाऊँ ? लें आप भी देखें —

साधक बनकर जब जीव रहे, साधना साधने में तत्पर ।
साक्षात् ब्रह्म को करने की उत्कण्ठा जागृत हो अन्तर ॥
जब हृद् समुद्र में अभिलाषाओं की तरङ्ग आलोडित हो ।
वैराग्य मौक्तिक तब प्रकटे, जब भक्ति सिन्धु व्याकुल चित हो ॥
या हृदय गगन में भक्ति मेघ की छटा उठे छहरा करके ।
साधना झकोरों से पिसकर सौदामिनि सी घहरा करके ॥
तब ब्रह्म-विभा-विद्युत प्रकटे क्षणदा सी क्षण भर कर प्रकाश ।
छिप जाय कौंध देकर अपनी झपके आँखों में चमकहास ॥

इस छन्द में उपमा और रूपक का ऐसा अनूठा संगम है जिसे देखकर चित्त चमत्कृत होता है । साधक साधना में व्यस्त है । हृदयाकाश में भक्ति के बादल उमड़-धुमड़ रहे हैं । साधनारूपी वायु उन मेघों को लेकर आकाश से पाताल तक नाप रहा है जब बादल टकराता है अहा! बिजली कौंध जाती है वह बिजली ब्रह्माविभा है, प्रभु की कृपा है आनन्द का चमत्कृत कर देने वाला प्रकाश है जिसको पाकर साधक धन्य-धन्य हो रहा है । जब बादल टकराये तो भक्ति रस भहरा पड़ा अहा! आनन्द बरस गया, भक्त भीग गया और कहने लगा —

हे प्रभु अक्षत आप हो, हो अविनश्वर ईश ।
जीवनप्रद प्रभु जगत् के, तुम अलक्ष अवनीश ॥
हे प्रकाश के पुञ्ज प्रभु ! सुपथ ले चलो नाथ ।
पाप कर्म से दूर रख, गहो हमारा हाथ ॥
हे तेजस्वी तेज दो, दो ऐश्वर्य पुनीत ।
सुपथ चलूँ सुखमय रहूँ, रहे न मन भयभीत ॥

ऐसे मनोरम, सुमनोहर, दर्शनभरित, प्राञ्जल छन्दों से परिपूर्ण है

“मुक्तिसोपान” । तीन उपनिषदों ईशोपनिषद् केनोपनिषद् और कठोपनिषद् पर बही है कविता पयास्विनी कल्लोल करती हुई सागर की ओर आनन्द सागर, परम की प्रभु और जिसका ओर छोर नहीं है उसकी ओर । मैंने उपनिषदों को खूब पढ़ा है, और उनको कई बार पढ़ाया है । उपनिषदों पर कई-कई बार कथाएं की हैं । अनेक भाष्य जगद्गुरु शङ्कराचार्य, महात्मा नारायण स्वामी, सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार जैसे विद्वानों के पढ़े हैं किन्तु कविता तो फिर भी कविता होती है और वह भी मातृभाषा की कविता ? जो लोग कविताकामिनी के वल्लभ हैं वे ही उस रस की अनुभूति अन्तस्तल तक कर सकते हैं ।

मैंने इसके छन्दों को लेखक के मुखारविन्द से सुना है । पाण्डुलिपि को एकबार नहीं तीन बार पढ़ा है किन्तु अतृप्त ही रह गया हूँ । याद कर लेने की इच्छा होती है कण्ठस्थ करके गले लगाये रहने की इच्छा होती है किन्तु असामर्थ्य बाधा बनती है । मन को दिलासा है कि प्राकशित हो रही है तो पुस्तक के रूप में तो रखी जा सकेगी ही । आप भी उपनिषद् पढ़ें, अपनी मातृभाषा के गेय पद्यों में पढ़ें और रहस्य को समझें ।

मैं कामना करता हूँ कि ‘मुक्ति सोपान’ अपने नाम को सार्थक करता हुआ सोपान बनकर प्रभुप्राप्ति द्वारा मुक्ति प्रदान करें । आनन्दधन प्रभु की गोद सब पाठकों को सहज ही प्राप्त हो और लेखक की लेखनी काव्यधारा को इसी प्रकार अजस्र प्रवाहित करती रहे । वे चिरायु होकर काव्यमय रहें प्रभु उन्हें इतनी सामर्थ्य दें ।

आलोकित “आलोकपुञ्ज” से सब वसुधा हो ।

“मयार्दा पुरुषोत्तम” पढ़ मर्यादा पालें ॥

“योगेश्वर” की गुणगरिमा को कर अवगाहन ।

‘सोपान मुक्ति’ का सब नर-नारी अविचल पालें ॥

कविवर की कविता कामिनी अमर हो जाये ।

कल्मष कलि का काट कपट को दूर भगाये ॥

कर्मकर्तनी से काटें कटुताकपास को ।

धन्यवाद दें देवनारायण सदा आपको ॥

श्रुति सेवक शिवदत्त पाण्डेय “आचार्य”

वेद वेदाङ्ग विद्यापीठ गुरुकुल आश्रम

महर्षिदयानन्दनगर, धनपतगंज, सुल्तानपुर (उत्तर प्रदेश)

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
प्रथम खण्ड ईशोपनिषद् के आधार पर अध्यात्म दोहावली	१-४ (कुल दोहा ४१)
द्वितीय खण्ड (प्रथम अध्याय) केन और कठोपनिषदीय अध्यात्मिक काव्य	५-७ (कुल पद १०)
द्वितीय अध्याय	८-९ (कुल पद ९)
तृतीय अध्याय	१०-२४ (कुल पद ८६)
चतुर्थ अध्याय	२५-४३ (कुल पद ९७)
पञ्चम अध्याय	४४-५२ (कुल पद ४३)

कुल पद - २४५

॥ ओ३म् ॥

मुक्ति-सोपान

प्रथम खण्ड

ईशोपनिषद् के आधार पर
अध्यात्म दोहावली

॥ दोहा ॥

ईश्वर का आवास है, यह समग्र संसार ।
त्याग पूर्वक भोग नर, मत कर लोभ अपार ॥१॥

इस समस्त संसार के कण-कण में प्रभु व्याप्त ।
लोभ न कर इस विश्व का, त्याग भाव रख आप्त ॥२॥

कर्मों को करता हुआ, इच्छा रख शत वर्ष ।
इससे भिन्न न मार्ग है, रह अलेप, कर हर्ष ॥३॥

सौ वर्षों तक कर्म की, जिजीविषा रख गात ।
लिप्त न हों पर कर्म में, यही मार्ग है भ्रात ॥४॥

वे निश्चय ही जायेंगे, अन्धकार के लोक ।
आत्म हनन जो जन करें, पावें दारुण शोक ॥५॥

आत्मा के विपरीत चल, पाओगे बहु शोक ।
अन्ध तमस में जाओगे, मरकर, गहरे लोक ॥६॥

ब्रह्म अचल है, एकरस मन, से भी गतिमान ।
सदा इन्द्रियों से परे, सबमें एक समान ॥७॥

जग को धारण कर रहा, पर है सबसे भिन्न ।
 मनुज पकड़ से वह परे, उससे सब परिछन्न ॥८॥
 वही भ्रमाता विश्व को, स्वयं न पर गतिमान ।
 है सबके अति निकट भी, बाहर भी विभुवान ॥९॥
 गति देता है विश्व को, पर है स्थिर आप ।
 बाहर-भीतर व्याप्त है, वह अनन्त-निष्पाप ॥१०॥
 सब संसृति उसमें बसे, वह संसृति में व्याप्त ।
 जो जाने इस तत्व को, वही पुरुष है आप्त ॥११॥
 वन्दनीय वह नर सदा, लखे विश्व-प्रभु मांहि ।
 वह कण-कण में रम रहा, कहाँ खोजने जाँहि ॥१२॥
 ज्ञानी जन संसार को समझें उसका रूप ।
 शोक मोह से दूर रह, माने उसको भूप ॥१३॥
 जो जाने इस विश्व को, ईश्वर का आकार ।
 उन्हें न व्यापे शोक-भय, माया का व्यापार ॥१४॥
 सम्भव कर्ता ईश है, निर्विकार-अशरीर ।
 शुद्ध-पवित्र, अपाप वह, अज-अनादि है धीर ॥१५॥
 नस-नाड़ी से रहित वह, है बन्धन से दूर ।
 कविर्मनीषी ब्रह्म है, विमल-सुखद अनुपूर ॥१६॥
 याथातथ्य विधान से, कर्मों का फल देय ।
 हो कृतार्थ वह जीव, जो उसका आश्रय लेय ॥१७॥
 करे उपेक्षा ज्ञान की, कर्म करे बन अंध ।
 अन्धकार को प्राप्त हों, भोगें ईश प्रबन्ध ॥१८॥
 करे उपेक्षा कर्म की, धारे केवल ज्ञान ।
 और तमस को प्राप्त कर, भोगे दुःख महान ॥१९॥

ज्ञान-कर्म का मेलकर, जो करता है कर्म ।
 तरे मृत्यु सरिता वही, भोगे मुक्ति स्वधर्म ॥२०॥
 मिले अमरता ज्ञान से, मृत्यु तरे कर कर्म ।
 दोनों जोड़े एक संग, जान जगत का मर्म ॥२१॥
 ज्ञान-कर्म का फल पृथक-पृथक कहें मति धीर ।
 पृथक-पृथक मानें सदा, सुखमय रहे शरीर ॥२२॥
 प्रथम अविद्या कर्म है, विद्या ईश्वर-ज्ञान ।
 भिन्न-भिन्न फल उभय के, कहते हैं विद्वान् ॥२३॥
 करे उपेक्षा जीव की, पूजे मात्र शरीर ।
 अन्ध लोक को प्राप्त हो, भोगे भीषण पीर ॥२४॥
 उससे भी भीषण दुखी, रहते हैं वे लोग ।
 त्याग ब्रह्म को मात्र जो, भोगें तन हित भोग ॥२५॥
 स्थूल देह से भिन्न है, कारण-सूक्ष्म शरीर ।
 फल भी तीनों का अलग, कहते ज्ञानी-धीर ॥२६॥
 तीनों को ही जान कर, कर्म करे अविरक्त ।
 पर विरक्त रह कर्म से, रहे ईश-आसक्त ॥२७॥
 सृजन और संहार का, रहे सर्वथा ध्यान ।
 कर्म पुनीत करे सदा, पाये मोक्ष महान ॥२८॥
 इस काया से पृथक है, सूक्ष्म ब्रह्म अनिकाय ।
 वह अन्तर में रम रहा, उस हित करो उपाय ॥२९॥
 प्रकृति-जीव को अलग रख, कर दोनों हित कर्म ।
 इससे इस भव को तरे, उससे पाये ब्रह्म ॥३०॥
 चकाचौंध में विश्व की, छिपा सत्य का मर्म ।
 चमकीला ढकना हटा, देख सत्य औ धर्म ॥३१॥

जग के मोहक पात्र में, ढका सत्य अभिराम ।
हे प्रभु! यह ढकना हटा, दिखा धर्म निष्काम ॥३२॥

सर्व-जगत आधार हो ! अद्वितीय छविमान ।
दुखप्रद बन्धन खोल कर, प्राप्त करा कल्याण ॥३३॥

मङ्गलमय तव रूप है, उसे दिखा छविधाम ।
मुझको मेरा भान हो, खोल नयन अभिराम ॥३४॥

तिमिर-ताप का नाश कर, दे दो रम्य प्रकाश ।
अपने को मैं जान लूँ, कटे मोह का पाश ॥३५॥

तू अजरामृत जीव है, नाशवान यह देह ।
अतः सुमिर उस ईश को, करले उससे नेह ॥३६॥

अक्षर ओ३म् जपो सदा, याद रखो कृत कर्म ।
अविनाशी यह जीव है, मरण देह का धर्म ॥३७॥

हे प्रभु अक्षत आप हो, हो अविनश्वर ईश ।
जीवनप्रद प्रभु जगत के, तुम अलक्ष अवनीश ॥३८॥

हे प्रकाश के पुञ्ज प्रभु, सुपथ ले चलो नाथ ! ।
पाप कर्म से दूर रख, गहो हमारा हाथ ॥३९॥

हमको सदा बचाइये, कुटिल कर्म से ईश ।
नमस्कार बहु विधि करूँ, इसी हेतु जगदीश ॥४०॥

हे तेजस्वी तेज दो, दो ऐश्वर्य पुनीत ।
सुपथ चलूँ, सुखमय रहूँ, रहे न मन भयभीत ॥४१॥

॥ इति ईशोपनिषद् पर आधारित अध्यात्म दोहावली ॥

॥ इति मुक्ति-सोपान प्रथम खण्ड ॥

॥ ओ३म् ॥

मुक्ति-सोपान

द्वितीय खण्ड

केन और कठोपनिषदीय आध्यात्मिक काव्य

॥ प्रथम अध्याय ॥

हे ईश्वर ! तुम सुन्दरतम हो, सुन्दरता मुझे करो प्रदान ।
कर दूर हमारे दुरित-दुःख, अध्यात्म ज्ञान दे दो महान ! ॥
अन्त में आपका सुमिरन करता, मुक्त कलेवर हो जाऊँ ।
रह संशयहीन आप के प्रति, सर्वथा नाथ तुमको ध्याऊँ ॥१॥

सर्वाङ्ग हमारे सुन्दर हों, हो पुष्ट हमारा विमल गात्र ।
इन्द्रियाँ सभी हों तेजवती, मानस मेरा हो निरुत्पात ॥
हम पुष्टि-वृद्धि को प्राप्त करें, हो प्राण समूह सुखद निर्मल ।
हे ब्रह्म ! न कभी तजो मुझको, मैं भी न तजूँ तुमको अविकल ॥२॥

सम्बन्ध आपका औ मेरा, आविच्छिन्न रहे धर्मनुकूल ॥
मित्रता सनातन है मेरी जो, बनी रहे दुःख-द्वन्द्व भूल ॥
हो लक्ष्य मात्र अध्यात्म तत्त्व, जग के भी कर्म करूँ निर्भय ।
तुम में ही रमूँ निरन्तर मैं, जीवन में पाऊँ सदा विजय ॥३॥

साधक बन लगा रहूँ सदैव, अन्तर में विमल प्रकाश रहे ।
 त्रय तापों से अविमुक्त सदा, मन प्रतिक्षण तेरी ही शरण गहे ॥
 हों सारे क्लेश शमन मेरे, अविनाशी ऐसी दया करो ।
 सर्वत्र शान्ति ही मुझे मिले, तापों को प्रतिक्षण नाथ हरो ॥४॥

॥ शिष्य का प्रश्न ॥

किसकी स्फूर्ति-प्रेरणा से मन निज विषयों में लगता है ।
 किसके द्वारा नियुक्त होकर, तन-प्राण हमारा चलता है ॥
 वाणी को देता वाक् शक्ति, नयनों को रूप लखाता है ।
 कानों को श्रवण शक्ति देकर, जड़-चेतन-शब्द सुनाता है ॥५॥

है कौन सृष्टि की रचना कर अपने अनुरूप चलाता है? ।
 किसकी उपासना से नर हो कृत्कृत्य मोक्ष-फल पाता है? ॥६॥

॥ उत्तर ॥

है मन की शक्ति ब्रह्म व्यापक, प्राणों का प्राण वही ईश्वर ।
 वाणी को वाक् कला से भर, रसना को देता रस सुन्दर ॥
 कानों में शक्ति उसी की है, उसका ही तेज रूप बनकर ।
 नयनों को दृश्य लखाता है, वह ही भरता है, सुख अन्तर ॥७॥

ज्ञानी जन उसे जानकर ही, अमरत्व परम पद पाते हैं ।
 हो जीवनमुक्त लोक-बन्धन से, मोक्ष-मार्ग पर जाते हैं ॥
 मरणोपरान्त आनन्द प्राप्त करते हैं, रहकर मुक्त देह ।
 सबका प्रेरक है वही ब्रह्म, उससे ही जोड़ें परम स्नेह ॥८॥

आत्मा से करें ध्यान उसका, इन्द्रियाँ न वहाँ पहुँच सकतीं ।
 उस दिव्य अलौकिक सत्ता को, भौतिकता कभी न धर सकती ॥
 चेतना-क्रिया जो कुछ प्रतीत है, उसी ब्रह्म से है प्रेरित ।
 मन-इन्द्रिय से है परे सदा, स्थिर करलो यह अपने चित्त ॥९॥

है अकथनीय वह वाणी से, प्रज्ञा से हो प्रकाश उसका ।
 ऊपर है मूल प्रकृति से भी, कण-कण में है निवास उसका ॥
 वह अद्वितीय है ब्रह्म सनातन, अविदित है वह मन द्वारा ।
 ध्यानात् उसे पा सकते हो, वह है शरीर से भी न्यारा ॥१०॥

वाणी की शक्ति उसी से है, उसको वाणी क्या गायेगी ।
 नयनों में ज्योति वही देता, यह उसे देख क्या पायेगी!! ॥
 उसका ही नाद विश्व में, है निर्विवाद वह अश्रवणीय ।
 शोभायमान करता जग को, उसकी शोभा है अतुलनीय ॥११॥

॥ इति प्रथम खण्ड का प्रथम अध्याय ॥

॥ ओ३म् ॥

॥ अथ द्वितीय अध्याय ॥

इन्द्रियाँ हमारी भौतिक हैं, है मनस्तत्त्व भी प्रकृति मात्र ।
 इससे न उसे पा सकते हम, आत्मा है उसका प्रेम पात्र ॥
 जड़ कभी न चेतन को जाने, चेतन ही उसे जान सकता ।
 वह महा चेतनों का चेतन, सीमा में कभी न आ सकता ॥१॥

गति वही इन्द्रियों का प्यारा, हैं चेष्टायुक्त प्राण उससे ।
 कल्याण उसी से होता है, पाता है प्राण विश्व उससे ॥
 यह ब्रह्म नहीं है, जो स्वरूप आँखों से नित्य देखते हैं ।
 वह है इसका देने वाला, ज्ञानी जन ऐसा कहते हैं ॥२॥

जो जन मन में मानता, ब्रह्म को पूरा जान गया हूँ मैं ।
 निश्चय है भ्रमित मूढ़ मति से, क्या जग के पार गया हूँ मैं ॥
 जो भी यह दृष्ट जगत दिखता, अत्यल्प रूप है पूरण का ।
 अब तक जो कुछ तूने जाना, वह एक अंश जग-कारण का ॥३॥

अज्ञात-ज्ञात वह दोनों है, सर्वथा विलक्षण है वह प्रभु ।
 है एक अलौकिक शक्ति वृहत्, वह जग पालन कर्ता है विभु ॥
 वह तर्क-ज्ञान का विषय नहीं, साधक ही उसे जान सकता ।
 जब तक अभिमान न जायेगा, प्रत्यक्ष न उसका हो सकता ॥४॥

प्रतिबोध हमारा समझो तुम, तब अमृत तत्त्व को पाओगे ।
 साक्षात्कार (अनुभूति) ब्रह्म की, अन्तर से कर पाओगे ॥
 उससे ही शक्ति प्राप्त करके, उस अमृत रूप को जानोगे ।
 अन्तर्यामी की दया दृष्टि से ही उसको पहचानोगे ॥५॥

वास्तविक ज्ञान का स्रोत वही, वह ही जब ज्ञान कराता है ।
 तब कुछ-कुछ उसे जान पाता, जो जीव प्रेम से ध्याता है ॥
 उत्साह और रुचि जागृत कर, उसके पारायण बन जाओ ।
 श्रद्धा से अमृत प्राप्त होगा, जब विद्या पूर्वक अपनाओ ॥६॥

यह मानव जीवन दुर्लभ है, मिलता है भाग्यबली को ही ।
 साधन में तत्पर लगे रहो, तब जानोगे जग निर्मोही ॥
 यदि इस अवसर पर चूक हुई, तब फिर बन्धन में जकड़ेगा ।
 संसार-प्रवाह प्रवाहित है, फिर त्रिविध शूल बन पकड़ेगा ॥७॥

दक्षता जगा कर आत्मा में, साधन में तत्पर हो जाओ ।
 सार्थक कर लो यह नर शरीर, अन्यथा यहीं आओ-जाओ ॥
 हैं अन्य योनियां भोग मात्र, साधना यहीं कर सकते हो ।
 कर्मों के भोग मात्र हित ही, जीवन पाकर मर सकते हो ॥८॥

शूलों से बचने का उपाय, केवल नर ही कर सकता है ।
 रह योग परायण आत्मा से, परमात्मा को धर सकता है ॥
 हे बुद्धिमान ! निज प्रज्ञा का आलोक जगाओ साधन से ।
 तब मिल सकता है अमर लोक, छूटोगे जग के बन्धन से ॥९॥

॥ इति द्वितीय अध्याय ॥

॥ ओ३म् ॥

॥ अथ तृतीय अध्याय ॥

गुरु बोले, शिष्य ! तुम्हारे हित संकेत किया कुछ वाणी से ।
 उसकी महिमा का अंश मात्र ही संभव वर्णन वाणी से ॥
 उसके स्वरूप का अल्प सार मैंने दर्शन करवाया है ।
 पर इतना ही है नहीं ईश ! जो कुछ अबतक समझाया है ॥१॥

वस्तुतः और भी महिमा है, जो मनुज-पकड़ से बहुत दूर ।
 मन, प्राण, इन्द्रियां और आत्मा हैं, ईश्वर से पूर्ण पूर ॥
 इन सबके विषय-प्रकार अलग, है शक्ति सभी की भिन्न-भिन्न ।
 सबकी क्षमता भी अलग-अलग, औ कार्य ढंग भी भिन्न-भिन्न ॥२॥

उस ईश्वर से अनुप्राणित-प्रेरित औ सक्षम हो चलते हैं ।
 क्षमता-दाता वह ईश्वर ही, उससे ही ये सब पलते हैं ॥
 अब तुम उसका साकार करो, महिमा प्रत्यक्ष बताता हूँ ।
 दृष्टान्त एक लौकिक देकर, उसका महत्व दिखलाता हूँ ॥३॥

वह है देवों का महादेव, असुरत्व उसी से जाता है ।
 देवत्व बढ़ाता है तन में, आत्मा को दिव्य बनाता है ॥
 इन्द्रियाँ हमारी देव रूप, देवत्व उसी से पाती हैं ।
 उसके ही बल से बली बनीं, हमसे शुभ कर्म कराती हैं ॥४॥

अभिमान करे क्या तन अपना, बल-ज्ञान उसी से प्रेरित है ।
 है सकलशक्ति की शक्ति वही, वह शक्ति किन्तु जग के हित है ॥
 इक बार जगा है अंकार देवों के मन में पूर्ण रूप ।
 “सक्षम मैं सभी कार्यों में, भूतों का मैं ही महा भूत” ॥५॥

वस्तुतः भूल कर ईश्वर को, अपना ही दम्भ हाँकते थे ।
 मैं ही कर्ता इस काया का, अपने को ब्रह्म आंकते थे ॥
 ईश्वर की कृपा कोर भूले, फूले अपने विराट मद में ।
 उसकी महिमा सर्वथा भूल, पद पटके मोह-मान-मद में ॥६॥

बोले अपराजित हम सदैव, असुरों को हमने जीता है ।
 हम परम शक्तिशाली सत्ता, हमसे सबका बल रीता है ॥
 हम सब ही सृष्टि चलाते हैं, जय पाते हैं निज के बल से ।
 अपनी उद्धाम शिखा महान, जीते हैं हम निज कौशल से ॥७॥

अन्तर्यामी ने जान लिया, देवों में दम्भ जगा महान ।
 करुणा-वरुणालय ने समझा, जग गया सुरों में दर्प-मान ॥
 अभिमान भर गया इनके तन, अब इसे मिटाना ही होगा ।
 इनकी अत्यल्प शक्तितता का, कुछ ज्ञान कराना ही होगी ॥८॥

अब इनका पतन हो गया है, अपने को कर्ता मान रहे ।
 मेरी प्रदत्त निज क्षमता को, ये अपनी क्षमता जान रहे ॥
 अतएव कृपा इन पर कर दूँ, बच जाय पतन से मन इनका ।
 कर दर्प चूर्ण इनके बल का, कुछ परिचय दूँ निज तपधन का ॥९॥

तब तक देवों ने देखा, है साक्षात् यक्ष इक विद्यमान ।
 अद्भुत विशाल वपुधारी लख, आश्चर्यचकित हो निरभिमान ॥
 देखने लगे यह यक्ष कौन ? अत्यन्त अपरिचित-सा आया ।
 पहचान न सके उसे सुरगण, सबका मन भ्रम से भरमाया ॥१०॥

सब सहम गये वह रूप देख, अति दिव्य, न कुछ भी कह पाये ।
 हो उठे व्यग्र परिचय के हित, लख तेज किन्तु थे सकुचाये ॥
 बोले हे अग्निदेव ! जाकर कुछ इसका परिचय लाओ तो ।
 हम सबमें अति तेजस्वी हो, तुम अपना तेज दिखाओ तो ॥११॥

हे जातवेद ! तुम ज्ञानी हो, वेदार्थ जानने वाले हो ।
 सर्वत्र आप की सत्ता है, तुम जग दशानि वाले हो ॥
 इस जग का कण-कण ज्ञात तुम्हें, भवदीय ज्ञान गरिमा युत है ।
 संसृति का सुन्दररूप, तुम्हारी ही आभा से संयुत है ॥१२॥

यह यक्ष सामने जो प्रकटा, जाकर इसका संधान करो ।
 आकर बतलाओ हम सबको, इस महारूप का ज्ञान करो ॥
 अग्नि को भरोसा था निज पर, मैं विश्व जलाने वाला हूँ ।
 जड़ चेतन सबमें व्याप्त रूप, नव विभा जगाने वाला हूँ ॥१३॥

मुझसे कुछ भी अज्ञात नहीं, मैं द्रष्टा-ज्ञाता हूँ सबका ।
 है अतुलनीय मेरी आभा, मैं प्रथम प्रकाशक संसृति का ॥
 उदबुद्ध उठा भर शक्ति-गर्व, सत्वर पहुँचा पूछा सविनय ।
 'हे यक्ष देव ! है आप कौन ? जिज्ञासा करता हूँ भर नय' ॥१४॥

यक्ष ने कहा, पहले अपना परिचय दो मुझको तेजवान ।
 फिर मेरा उत्तर सुन लेना, हैं आप हर जगह विद्यमान ॥
 बोले मैं तेजपुञ्ज पावक, सारा जग मुझे मानता है ।
 आश्चर्य यही है मुझे महा, तू मुझको नहीं जानता है ॥१५॥

गौरवमय है मेरा स्वरूप, सब कहते जातवेद मुझको ।
 अति तेज रहस्य युक्त हूँ मैं, पहचान न पाया पर तुमको ! ॥
 सुनकर गर्वोक्ति यक्ष विहंसा, बोला अनभिज्ञ भाव लेकर ।
 अच्छा ! आप ही अग्निसुर हैं ! रखते हैं भीषण ज्वाल प्रखर ॥१६॥

अति सुन्दर हुआ आप आये, तो निज महिमा कुछ बतलायें ।
 सामर्थ्य-शक्ति क्या है तुममें, सम्भव हो तो वह प्रकटायें ॥
 आप में भरी क्या-क्या क्षमता, क्या-क्या करतब कर सकते हैं ? ।
 कृपया मुझको कुछ दिखलायें, कितनी रचना कर सकते हैं ॥१७॥

कितने विनाश हित हैं सक्षम, किस-किस को आप जला सकते ।
 कितना तप है तब ज्वाला का, कितना जग आप बसा सकते ॥
 “मैं क्या हूँ यह क्या बतलाऊँ, मेरी महिमा लख पाओगे ? ।
 भू-मण्डल क्षण में राख करूँ, लख मुझे आप घबड़ाओगे ॥१८॥

चाहूँ तो दृष्ट जगत को मैं, अपने उदरस्थ पचा जाऊँ ।
 मैं हूँ कितना महिमा महान, हे यक्ष तुम्हें क्या बतलाऊँ !!” ॥
 सुन वाक्य यक्ष स्थिर बोला, देखा इसको है दर्प बड़ा ।
 मैं क्यों न विनष्ट करूँ उसको, इसके मन में जो दम्भ पड़ा ॥१९॥

“यह सत्य कह रहे अग्नि देव, तो निज महिमा कुछ दिखलाओ ।
 यह तृण जो पड़ा भूमि पर है, इसको कर क्षार चले जाओ ॥
 ब्रह्माण्ड क्षार करने वाले, सूखा तृण राख बनाओ तो ।
 इसको ही मात्र भस्म करके, अपनी महिमा दिखलाओ तो” ॥२०॥

अग्नि को लगा अपमान हुआ, यह रझक जान नहीं पाया ।
 मुझको यह क्षुद्र समझ बैठा, झट उठा तेज निज प्रकटाया ॥
 सब दाहक तेज जगा तन का, क्यों नाहक शक्ति करूँ निष्फल ।
 सूखा तृण मात्र जलाने में, मैं क्यों प्रकटाऊँ पूरा बल ॥२१॥

स्पर्श मात्र से इसे जलाकर, लो मैं राख बनाता हूँ ।
 हे यक्ष देव ! इसके हित मैं कोई बल नहीं लगाता हूँ ॥
 देखो ! वह जला क्षुद्र तिनका, यक्ष ने लखा निज हंसी रोक ।
 ज्यों का त्यों था तृण विद्यमान, अब धीरे-धीरे बढ़ा झोंक ॥२२॥

वह सारी शक्ति लगा डाला, पूरा प्रयास पर विफल रहा ।
 हार कर शान्त हो गया अग्नि, यक्ष ने विहंस तब कथन कहा ॥
 क्यों ? क्षार कर दिया यह लघुतृण, कुछ और शक्ति विस्तार करो ।
 कर लो पूरा-पूरा प्रयास, निज महिमा अपरम्पार करो !! ॥२३॥

देखूँ कितना बल है तुममें, तव ताप भयङ्कर है कितना ।
 है कितना झूठा दम्भ भरा, तन में अभिमान भरा कितना ॥
 होकर लज्जित लौटा पावक, वह तृण ज्यों का त्यों रहा पड़ा ।
 हतप्रभ-सा आया मुरझाया, लज्जा से आकर हुआ खड़ा ॥२४॥

‘हे सुरगण ! हतप्रभ हुआ वहाँ, मैं उसको जान नहीं पाया ।
 यह यक्ष कौन है, रञ्जक भी उसको पहचान नहीं पाया ॥
 निष्प्रभ होकर मैं लौटा हूँ, मेरा जाना ही व्यर्थ हुआ ।
 उस महामनस्वी के आगे, स्वयमेव पूर्ण असमर्थ हुआ ॥२५॥

इतना सुन प्रस्तुत हुये वायु, झोंके से उठकर हुये खड़े ।
 अब मैं जाता हूँ यक्ष-निकट, मेरे में हैं सामर्थ्य बड़े ॥
 देवों ने कहा बहुत अच्छा ! जाओ देखो है यक्ष कौन ।
 पूरा विवरण लेकर आओ, सामर्थ्यवान हैं आप पौन ॥२६॥

अप्रतिम शक्ति है तव तन की, मन की गति से भी तीव्र आप ।
 लेकिन न विफल होकर आना, प्रकटाना अपना महाताप ॥
 भर अहंकार में चला वायु, हहराकर पहुँच गया तत्क्षण ।
 पूछा हे यक्ष कौन हो तुम ? क्या तेज तुम्हारा अति भीषण ॥२७॥

कुछ विहंसा यक्ष और बोला, पहले परिचय दो तुम अपना ।
 आगत का स्वागत करता हूँ, हो कौन ? तुम्हारा क्या सपना ॥
 ‘मैं प्रबल मातरिश्वा महान, मेरी प्रसिद्धि है संसृति में ।
 मैं सबका प्राणाधार स्वयं, है सृजन हमारी शुभ कृति में ॥२८॥

अत्यन्त गूढ़-गौरवमय है मेरा रहस्य, जग के ऊपर ।
 मैं प्रबल प्रभञ्जनवान वीर, विचरण करता भू से उठकर ॥
 जग की स्थिरता और विनाश, मेरी बाहों में बसता है ।
 सबको लेकर उड़ सकता हूँ, अप्रतिम हमारी क्षमता है ॥२९॥

अतिशय बल मेरे घूर्णिचक्र में, सबको अधर-घुमाता हूँ ।
 मैं निराधार इस अन्तरिक्ष में, तृणवत विश्व भ्रामाता हूँ ॥
 अर्णव मन्थन कर देता हूँ, नीरद उड़ते हैं गगनाङ्गन ।
 मलयज है मेरा श्वास यक्ष, उच्छ्वास तीव्र उनचास पवन ॥३०॥

झंझा झकोर झकझोर हमारे वाम हस्त की क्रीड़ा है ।
 अवरुद्ध श्वास गति कर सकता, मेरी स्थिरता पीड़ा है” ॥
 “बस-बस रहने दो, जान लिया, हैं वायुदेव आप ही प्रबल ।
 जो अन्तरिक्ष में उड़ते हैं, लेकर ईश्वर का दृढ़ सम्बल” ॥३१॥

“कैसा ईश्वर का दृढ़ सम्बल ! मेरा अपना बल ही अपार ।
 हूँ स्वयं व्याप्त सचराचर में, मैं स्वयं जगत का महाऽऽधार” ॥
 “हैं स्वयं जगते के महाऽऽधार ? यह दर्प तुम्हारा झूठा है ।
 हे पवन देव गौरव-बल सब, उस जगदीश्वर का जूठा है ॥३२॥

उच्छिष्ट मात्र तेरा बल है, है मूलाधार विराट ईश ।
 अपने पर गर्व न करो वायु, है शक्ति प्रदाता वही ईश ॥
 यदि तुमको है अभिमान स्वयं का, यह तृण मात्र उड़ा दो तुम ।
 इस तिनके को अपनी सत्ता से, रञ्चक मात्र हिला दो तुम ॥३३॥

देखूँ कितना बल है तुममें, सामर्थ्य स्वयं का प्रकट करो ।
 बस जगह छुड़ा दो तुम इसकी, फिर अपने बल पर गर्व करो” ॥
 “स्थान छुड़ाना क्या ! इसको तो लुप्त प्रायः कर सकता हूँ ।
 भरमाकर महाव्योम में इसको, मैं अलक्ष कर सकता हूँ” ॥३४॥

इसके हित क्या बल प्रकटाऊँ, देखो वह उड़ा गया अकाश” ।
 तिनका पर हिला नहीं रञ्चक, बल भर-भर पाता पवन त्रास ॥
 सम्पूर्ण शक्ति से झकझोरा, अन्ततः हार कर बैठ गया ।
 मानो तिनके में कर प्रवेश, जग-भार, भार ले पैठ गया ॥३५॥

गतिरुद्ध हो गई मारुत की, उस महाशक्ति की सत्ता से ।
 अन्त में हार कर लौट गया, बलवान वायु उस पत्ता से ॥
 अग्नि की भाँति ही हत प्रतिभा, लज्जा से गड़ा लौट आया ।
 सिर झुका सुरगणों से बोला, मैं भी कुछ जान नहीं पाया ॥३६॥

वह यक्ष कौन है; आदि-अन्त से हीन असीम पुरुष जैसा ।
 खुल सका नहीं उसका रहस्य, मैं लौटा जैसे का तैसा ॥
 लगता था जैसे काट मार कर मुझको बैठ गया कोई ।
 अब क्या अपने पर गर्व करूँ, मेरी तो सब प्रतिभा खोई ॥३७॥

देवता सभी आश्चर्य चकित, बस मारुत का मुँह ताक रहे ।
 यह यक्ष कौन है, पता लगा अब कौन वास्तविक तथ्य कहे ॥
 अप्रतिम शक्ति मय अग्नि-वायु जब उसके सम्मुख हारे हैं ।
 अब किसकी बात करें, हम सब उसके समक्ष बेचारे हैं ॥३८॥

फिर भी न निराशा मन लायें, इसके हित अन्य उपाय करें ।
 हैं महाशक्तिशाली सुरपति, उनका ही अन्त सहाय वरें ॥
 सब एकबद्ध हो देवराज सुरपति बलशाली से बोले ।
 हे इन्द्रदेव, अब आप उठें, उस यक्ष वीर का बल तौलें ॥३९॥

अब उसका पता लगाने में आप ही दीखते हैं सक्षम ।
 सुरगण सारे निरुपाय हुये, भवदीय शरण में हैं अब हम ॥
 सुन देवगणों का कथन दम्भ भर चला इन्द्र, कह "बहुत ठीक ।
 मैं सद्यः जानकर आता हूँ, मेरा निश्चय होगा सटीक" ॥४०॥

पर वहाँ पहुँचते ही सुरपति के, हुआ अलक्ष यक्ष सुन्दर ।
 हो गया दर्प सब चूर-चूर, कर सका न दर्शन जी भरकर ॥
 था गर्व इन्द्र को अपने पर, इसलिए पलायन हुआ यक्ष ।
 (अभिमानी इन्द्र (आत्मा) से है दूर बल का सबल यक्ष ॥४१॥

दर्पी को कभी न दिखता है, हो जाता उससे दूर ब्रह्म ।
 विनयी पाता उसकी आभा, साक्षात् उसी से सदा ब्रह्म ॥
 जब तक अभिमान भरा मन में, वह यक्ष न कभी लखाता है ।
 होकर विनीत कोई बिरला ही, साधु पुरुष लख पाता है ॥४२॥

अभिमान मात्र था एक दोष, थे और सभी गुण विद्यमान ।
 पर इसी एक के कारण ही, हो गया दूर वह विभावान ॥
 यद्यपि अधिकारी था पूरा, सर्वोपरि था पर दर्प दोष— ।
 उसका ही ज्ञान कराना था, हट गया यक्ष कर महारोष ॥४३॥

है यक्ष (ब्रह्म) वह सर्वोपरि, और इन्द्र (आत्मा) अति लघुतर ।
 लघुतर लघुता से पा सकता, दम्भी से दूर वैश्वानर ॥
 भौतिक है यह ब्रह्माण्ड पूर्ण, अग्न्यादि देव भी हैं भौतिक ।
 पर वे हैं उसके अंश मात्र, उसमें ही हैं प्रतिष्ठ शोभित ॥४४॥

यह नर शरीर भी भौतिक है, इन्द्रियाँ (देवगण) भी भौतिक ।
 है यज्ञ रूप ब्रह्माण्ड सकल, अग्न्यादि शक्तियाँ हैं सीमित ॥
 है यक्ष रूप वह पूर्ण ब्रह्म, ये तत्व उसे क्या जानेंगे ।
 ये तो जड़ता में जकड़े हैं, कैसे उसको पहचानेंगे ॥४५॥

आत्मा (इन्द्र), भी चेतन है, परमात्मा पर चेतन महान ।
 उसकी अनुकम्पा से ही उसको जान सकेगा यह अजान ॥
 लेकिन लघुता अपना करके जब उसकी शरणागत होता ।
 जब जीव कृतार्थ-दिव्य होता, तब ही यह उसको लख सकता ॥४६॥

अतएव दूर हो गया यक्ष, हो गई अलक्ष शक्ति उसकी ।
 अभिमानी इन्द्र न जान सका, कैसी विराट माया उसकी ॥
 जब हुई अदृश्य यक्ष सत्ता, आश्चर्य चकित रह गया इन्द्र ।
 पर लौटा नहीं वहाँ से वह, पड़ गया बुद्धि में महा द्वन्द्व ॥४७॥

तब तक प्रकटी इक दिव्य शक्ति, उसके शरीर से ही सत्वर ।
 जो ज्ञान विभा थी छिपी गात, उभरी आलोकित हुई प्रखर ॥
 उससे ही पूछा स्वयं इन्द्र ने, मनः शक्ति जागृत करके ।
 हे देवि! मुझे बतलाओगी, क्यों छिपा यक्ष संशय भरके ॥४८॥

क्षण मात्र के लिए प्रकट हुआ, देखते हो गया फिर अलक्ष ।
 किसी हेतु यहाँ क्षण भर प्रकटा, फिर किस कारण छिप गया यक्ष ॥
 हे देवि ! बताओगी मुझको, इसका रहस्य, है यक्ष कौन ? ।
 हे ऋतम्भरे प्रज्ञे! मुझको संदेह हो रहा मौन-मौन ॥४९॥

प्रज्ञा की शक्ति जगी, आभा प्रकटी, मेधा में हुआ ज्ञान ।
 अन्तर का चिन्तन उम्रुख हो बोला, प्रकाश कर विभावान ॥
 हे इन्द्र (आत्मा) तेरा ही संशय पाकर छिप गया यक्ष ।
 उद्बुद्ध हुआ तेरे भीतर, अपने बल का ले दर्प पक्ष ॥५०॥

जो अहंकार की प्रभा, तमस लेकर तुम में है प्रकट हुई ।
 “असुरों की विजय हमारी है” यह भ्रांत धारणा विकट हुई ॥
 इस कारण ब्रह्म विलीन हुआ उसको तुम देख नहीं पाये ।
 उसके बल को अपना जाना, अपने मद में ही बौराये ॥५१॥

वास्तव में शक्ति उसी की है, वह ही देता है, ज्ञान प्रभा ।
 पर उसे भूल, प्रज्ञा-प्रकाश को मान लिया अपनी प्रतिभा ॥
 वह ब्रह्म विमल आभा देता, तब हम स्वरूप लख पाते हैं ।
 आसुरी प्रवृत्ति मिटा तम की, निर्मल प्रकाश में आते हैं ॥५२॥

हे इन्द्र ! न कुछ भी है तेरा, आलोकपुञ्ज उसका सारा ।
 जो कुछ किञ्चित भी विभा भरी, यह है उस प्रेरक के द्वारा ॥
 उसके प्रकाश-प्रेरण से ही, हम तमस पर विजय पाते हैं ।
 है तमस रूप ही अन्ध तत्त्व, इस कारण देख न पाते हैं ॥५३॥

प्रभु कृपा-प्रकाश हमें देता, तब असुर शक्तियाँ दबती हैं ।
 अन्यथा हमारे तन से ही, उत्क्रान्त हमें दुख देती हैं ॥
 हो सावधान ! रहकर सचेत जो ब्रह्माश्रय में जाते हैं ।
 असुरत्व मिटाकर प्रज्ञा का, वे वृहत् देव बन जाते हैं ॥५४॥

ये अग्नि आदि सब पञ्च तत्व जड़ हैं, न स्वयं कुछ कर सकते ।
 प्रेरित हो महा चेतना से, कोई संरचना कर सकते ॥
 यह अग्नि व्याप्त है तृण-तृण में, पर स्वयं न उसे जला सकती ।
 चेतन का प्रेरक बल पाकर ही निज महिमा प्रकटा सकती ॥५५॥

है इसी भाँति मारुत बल भी, परवश प्रेरण से कार्य करे ।
 साहाय्य ब्रह्म का पाकर ही, अपना स्वरूप विस्तार करें ॥
 जड़ स्वयं जड़ा है जड़ता से, उसका अपना क्या अहंकार ।
 कर्ता-धर्ता जगदीश्वर है, वह यक्ष (ब्रह्म) है निर्विकार ॥५६॥

हे इन्द्र ! जगा अपनी प्रज्ञा, वह स्वयं मार्ग बतलायेगी ।
 करणीय कर्म-हित दे प्रकाश, सत्पथ पर तुझे चलायेगी ॥
 निज प्रज्ञा का आलोक, स्वयं करणीय कर्म बतलाता है ।
 वर्जित करता है पापों से, अन्तर प्रकाश प्रकटाता है ॥५७॥

अभिमान त्याग, महिमा महान का लेकर पावन अवलम्बन ।
 भावना पवित्र रखो प्रतिक्षण, कर देगा उच्च तुम्हारा मन ॥
 ब्रह्म की शक्ति के बिना, शक्ति आत्मा में कभी न आ सकती ।
 उसकी अनुकम्पा के बिना, लक्ष्य की पूर्ति न निज से हो सकती ॥५८॥

जाओ हे इन्द्र ! सजग प्रतिक्षण, जीवन रण विजय करो प्रण से ।
 संस्पर्श ब्रह्म का प्राप्त हुआ, हो गये मुक्त भौतिक व्रण से ॥
 है अग्नि-वायु भी भाग्यवान, संसर्ग ब्रह्म का मिला दिव्य ।
 सौभाग्य वार्ता का पाया, पर दबा सुशोभन रूप भव्य ॥५९॥

है यश रूप वह महत् ब्रह्म, जिसका दर्शन सबने पाया ।
तीनों ही हो सौभाग्यवान, उसका स्वरूप कुछ लख पाया ॥
पर याद रहे यह अग्नि-वायु दर्शन उसका कर सकते हैं ।
उसके स्वरूप का ज्ञान किन्तु, ये कभी नहीं कर सकते हैं ॥६०॥

हे इन्द्र तुम्हीं हो ज्ञानवान, उसके स्वरूप को जानोगे ।
अन्तर आभा की आभा से, लेकिन उसको पहचानोगे ॥
इन्द्रियाँ न उसको जानेंगी, वह तो उससे ही खिलती हैं ।
कर्तव्य बोध की शक्ति उसी ईश्वर से प्रेरित मिलती है ॥६१॥

साधक बनकर जब जीव रहे, साधना साधने में तत्पर ।
साक्षात् ब्रह्म को करने की उत्कण्ठा जागृत हो अन्तर ॥
जब हृद् समुद्र में अभिलाषाओं की तरङ्ग आलोड़ित हो ।
वैराग्य मौक्तिक तब प्रकटे, जब भक्ति सिन्धु व्याकुल चित हो ॥६२॥

या हृदय गगन में भक्ति मेघ की छटा उठे छहरा करके ।
साधना-झकोरों से पिसकर, सौदामिनी सी घहरा करके ॥
तब ब्रह्म-विभा-विद्युत प्रकटे, क्षणदा सी क्षण भर कर प्रकाश ।
छिप जाय कौंध देकर अपनी, झपके आँखों में चमक हास ॥६३॥

इस भाँति अनवरत, सतत साधना लीन रहे जब मुह्य जीव ।
तब शनैः-शनैः आभा प्रकटे, झटके अन्तर को विमल सीव ॥
साधक पर त्यागे ध्यान नहीं, आराध्य देव के चिंतन का ।
तब दीर्घकाल पश्चात् कुछ चमक पाये प्रभु के दर्शन का ॥६४॥

आनन्द लखे आश्चर्य चकित, पर भ्रमित न करे चित्त अपना ।
उत्कट अभिलाषायें रखता, दृढ़ता से बाँधे मन अपना ॥
क्षणभर के लिए चमक आकर, चाहे तुरन्त ही हो विलीन ।
पर भङ्ग न करे साधना को, राखे उत्कण्ठायें नवीन ॥६५॥

अति गोपनीयता से अपनी साधना साधता रहे मुग्ध ।
 संभवतः तब कालान्तर में हो सिद्धि, न होवे हृदय क्षुब्ध ॥
 फिर भी वह गायन योग्य न होगा, अक्थनीय आनन्द स्रोत ।
 अनुभवी संत बन गा सकते उसकी महिमा का महा स्रोत ॥६६॥

चातक की तरह रटन पी-पी सदा रहे बिसरावे ना ।
 आराध्यदेव को छोड़, विश्व-माया में मन भरमावे ना ॥
 निर्गुण औ सगुण साधना कर, दोनों का चिंतन मनन करें ।
 सेवे ईश्वर की आज्ञा को, उसकी महिमा का भजन करे ॥६७॥

स्वाभाविक इष्ट-प्रेम जाग्रत कर, उस हित ही होवें व्याकुल ।
 भौतिक माया का मोह त्याग, कर्मों में रमे, न हो संकुल ॥
 कर्तव्यबोध भी रहे सदा, जग से न बने नर अकर्मण्य ।
 रत रहे न किन्तु भौतिकी में, समझे अपना यह तन नगण्य ॥६८॥

है नाशवान मेरी काया, अविनाशी मैं हूँ और ब्रह्म ।
 क्षर है यह सारा जगत मात्र, अक्षर है मूल प्रकृति अगम्य ॥
 यह गात्र हमारा जड़ता का, जड़ में विलीन हो जायेगा ।
 लेकिन मम चेतन जीवात्मा, ईश्वर में आश्रय पायेगा ॥६९॥

स्मरण रहे मैं कर्म भोग हित, इस संसृति में आया हूँ ।
 स्वच्छन्द न है अपनी काया, परवश मैं जीवन पाया हूँ ॥
 अनिवार्य कर्म भी करना है, उनकी भरनी भी भरनी है ।
 है मोक्ष हमारा परम लक्ष्य, उसके हित करनी, करनी है ॥७०॥

वह ब्रह्म हमारा मातु-पिता, हम उसके प्यारे तनय मात्र ।
 उद्भव अभिवृद्धि वही करता, रचता है सबका रम्य गात्र ॥
 वह दृश्य जगत का निर्माता, जग प्रगटता निज क्षमता से ।
 देकर पयस्विनी को पावन पय, पूरित करता ममता से ॥७१॥

घटता-बढ़ता है दृश्य जगत्, पर ब्रह्म एक रस रहता है ।
 जीवात्मा को प्रत्येक योनि में, तद्वत् क्षमता देता है ॥
 बल और ज्ञान का दाता वह, दे यथा योग्य सबको तन बल ।
 सबको चातुर्य प्रदान करें, सबको देता जीवन संबल ॥७२॥

अग्न्यादि शक्तियाँ तो जड़ हैं, हैं मात्र जड़ जगत के प्रतिनिधि ।
 ये दृश्य-अदृश्य उभय रहतीं; समयानुसार पावनधन-निधि ॥
 परिचय देती हैं विमल ब्रह्म का, जग का ज्ञान कराती हैं ।
 आत्मा-परमात्मा की प्रतिनिधि बन, दिव्य रूप दर्शाती हैं ॥७३॥

इन्द्रियां इन्हीं से शक्तिमान, इनसे ही प्राणों की धारा— ।
 प्रवहित होती सारे तन में, करती हैं तन-बल विस्तारा ॥
 शीतोष्ण आदि सब द्वन्द्व इन्हीं से, इनसे ही उद्भव-विनाश ।
 इनसे ही तम आवृत होता, ये ही देतीं पावन प्रकाश ॥७४॥

एकता यही सर्जित करती, भिन्नता इन्हीं से आती है ।
 एक से अनेक स्वरूपों को, प्रभु के बल से प्रकटाती हैं ॥
 एकत्व-द्वित्व फिर अनेकत्व, सापेक्ष जगत् का शुभ विकास ।
 होता इनसे ही समय-समय, होता है समयोचित विनाश ॥७५॥

उस विमल ब्रह्म से प्रेरित ये, प्रकटित होतीं औ छिपतीं हैं ।
 विद्युत-प्रकाश इव निमिष मात्र में, ओझल और निकलती हैं ॥
 जैसे विद्युत प्रकाश निर्मल दिखता, फिर क्षण में छिप जाता ।
 त्यों ब्रह्म तिरोहित रहता है, योगानुभूत ही प्रकटाता ॥७६॥

क्षण-क्षण उड़ता चञ्चल-मन जो, गत औ आगत का किये ध्यान ।
 संकल्प-विकल्प किया करता, भर नव्य कल्पना में उड़ान ॥
 ब्रह्माण्ड-पिण्ड दोनों में मन्थन-भ्रमण सदैव किया करता ।
 अध्यात्म-आधिभौतिक जग में, यह चञ्चल गति विचरण करता ॥७७॥

जो स्थित प्रज्ञ नहीं होता, यक्ष को नहीं लख पाता है ।
 भ्रमता जग के आकर्षण में, अपना सर्वस्व गंवाता है ॥
 जो व्यक्ति ब्रह्म-वन में, अपने मन को शुभ आश्रय देते हैं ।
 निज भक्ति-भाव से उसे समर्पित हो, उसका हो लेते हैं ॥७८॥

निश्चय ही उसका वरण, ईश निज अनुकम्पा से करता है ।
 अभिवाञ्छित फल आकृष्ट भक्त को, वह दयालु प्रभु देता है ॥
 सारे प्राणी भी उसी भक्त से आकर्षित होने लगते ।
 आकृष्ट तरंगों से उसकी, उसको शुभ फल देने लगते ॥७९॥

कटु जगत मिष्ट बन जाता है, रहती न क्षारता उसके हित ।
 आलोडित विश्व-सिन्धु करके, मोती उपजाता है जग-हित ॥
 चित्त में भाव समता का भर, मर-मर कर भी हो अजर-अमर ।
 विश्रुत होता इस वसुधा पर, पाकर वैश्वानर-शक्ति प्रखर ॥८०॥

तप-कर्म और दम साधन से, भरता जीवन की दिव्य नींव ।
 कर प्राप्त प्रतिष्ठा प्रति नर से, होता अनलौकिक महाजीव ॥
 वासना त्याग पापी मन की, निज शक्ति संजोकर जीवन की ।
 कर प्रबल नियन्त्रण निज तन पर, भरकर विभूतियाँ इस भव की ॥८१॥

ब्रह्म की प्रतिष्ठा तन में कर, उसका मन्दिर जो हो जाता ।
 आधार स्तम्भ वही बनता, मानवता का प्रिय हो पाता ॥
 फिर ब्रह्मज्ञान के साथ-साथ आधार कर्म का लेता है ।
 आवश्यक अङ्ग विश्व का बन, जग में शोभा भर देता है ॥८२॥

आयतन दिव्य बन संसृति का, विस्तृत करता है मानवता ।
 सम्मिश्रण कर विज्ञान-ज्ञान का, जग में धर्म-सुधा भरता ॥
 शम-दम द्वारा शुभकर्मों पर, जो जीवन भवन बनाता है ।
 सत्य का स्वरूप जान सुन्दर, शिव बना गरल पी जाता है ॥८३॥

विस्तृत करता है ब्रह्मज्ञान, अपने पावन अचरणों से ।
 जीवन को चला अमर पथ पर, अवलम्बन पा शुभ कर्मों से ॥
 पाकर आनन्द लोक का सुख, अन्ततः अमर हो जाता है ।
 स्थित हो ब्रह्म-प्रतिष्ठा में, प्रभु शरणागत सुख पाता है ॥८४॥

यह ही है जीवन सार-सुधा, यह ही अनन्त स्थिर सुख है ।
 हे शिष्य! इसे कर लो धारण, इससे मिटता भव का दुःख है ॥
 यह ही अनन्त सुख देता है, कर मुक्त जगत के बन्धन से ।
 उस दिव्य यक्ष को जान, मनुज बच जाता जग के क्रन्दन से ॥८५॥

आनन्द अवस्था में विचरण करता है बनकर मुक्त जीव ।
 भव-दोष-द्वन्द्व मिट जाते हैं, उसकी छाया में पुत्र ! जीव ॥८६॥

॥ इति तृतीय अध्याय ॥

(इति केन)

॥ ओ३म् ॥

॥ अथ चतुर्थ अध्याय ॥

(कठोपनिषद्-सार)

दो कर्म, पारलौकिक-लौकिक आत्मा को पार लगाते हैं ।
ज्ञानी करते विज्ञान पूर्ण, पर मूर्ख उलझ रह जाते हैं ॥
संकल्प शान्त जिनका होता वे सुमन सरीखे खिलते हैं ।
हो बीत मन्यु तीनों तापों से, निज रक्षा कर लेते हैं ॥१॥

करते प्रसन्न निज तप बल से, प्रियजन-गुरुजन का किये मान ।
पितरों का भी निज श्रद्धा से, समयोचित करते मान जान ॥
जीवन-साधक निज तपः अग्नि में क्रिया द्रव्य हुत करते हैं ।
मर्त्य में, स्वयं निज कर्मटता से, दिव्य भाव भर देते हैं ॥२॥

आनन्द बढ़ाते भूतल का, भव-शोक विसर्जित कर देते ।
स्वर्गाग्नि प्रज्ज्वलित कर तन की, अमरत्व प्राप्त जग-कर लेते ॥
शोकों से मुक्त स्वयं होकर, संसृति को मुदिता कर प्रदान ।
अमरत्व परम पद पा जाते, देकर वसुधा को दिव्य ज्ञान ॥३॥

लोकों में प्रमुख मनुज बनकर, स्थान स्वर्ग का प्राप्त करें ।
तीनों अग्नियां जगा तन की, उपकार हुतानल प्रकट करें ॥
जीवन को समझ यज्ञ सुन्दर, भव में सुगन्धि भर जाते हैं ।
अपना उपकारी देह त्याग, अन्त में अमर हो जाते हैं ॥४॥

तीनों सन्धियाँ जोड़ जीवन की करते हैं सोपान नव्य ।
उठ जाते मर्त्य लोक से ऊपर, ब्रह्म-साधना साध भव्य ॥
जग भौतिकता का मोह त्यागते, समझ उसे भौतिक विलास ।
चिरजीविकाम रहते आजीवन, उन्हें न छूते दुःख-त्रास ॥५॥

श्रोभाव जगत में रखते हैं, तन तेज विनाशक समझ उसे ।
 होते न वित्त से कभी मूढ़, हर्षित हो देते त्याग उसे ॥
 इन भोगों को भोगने हेतु जीवन छोटा पड़ जाता है ।
 रह जाती है जिजीविषाएं, यह व्यक्ति स्वयं मर जाता है ॥६॥

अमरत्व त्याग कर मृत्यु वरे, वह बुध न कहाता है जग में ।
 आमोद-प्रमोद ग्रहण कर झूठा, काँटे बोता, निज मग में ॥
 जिसकी जिज्ञासा करें व्रती, रत रहें धर्म के साधन में ।
 परलोक ज्ञान हित रहें विकल, वैराग्य भाव रखकर मन में ॥७॥

विद्या का मन में रख विलास गहते हैं श्रेय-मार्ग सच्चा ।
 त्यागते प्रेय को क्लेश मान, जिसका परिणाम सदा कच्चा ॥
 है गत (अतीत) की कथा एक सुन प्रियवर ! तुझे सुनाता हूँ ।
 यमराज और नचिकेता का आख्यान तुम्हें बतलाता हूँ ॥८॥

नचिकेता के समक्ष फेंका था यमाचार्य ने मोह जाल ।
 पर फंसा न उसमें नचिकेता, अपनी प्रतिभा का समझ काल ॥
 हट गया धैर्यशाली उससे, तज प्रेय, श्रेय को स्वीकारा ।
 रख लिया योग का क्षेम, और भौतिक भावों को ललकारा ॥९॥

तब हो प्रसन्न श्री यमाचार्य, बोले तू जीव विलक्षण है ।
 तेरी श्रद्धा का मापदण्ड है अप्रमेय, शुभ लक्षण है ॥
 सुन विद्या और अविद्या हैं, विपरीत सर्वथा आपस में ।
 पर दोनों के प्रेमी न्यूनाधिक-सदा-सदा मिलते जग में ॥१०॥

तू श्रेय मार्ग का पथिक बना, मोहित न हुआ लख प्रेय-तत्त्व ।
 इसलिए विलक्षण है तू सुत ! पायेगा निश्चय अमर सत्त्व ॥
 बहुतक जन पड़े अविद्या में, पर निज को पंडित कहते हैं ।
 देते हैं ज्ञान दूसरों को, पर स्वयं दाह में दहते हैं ॥११॥

जैसे अंधे को पकड़ अंध, सच्चे मग से भटकाता है ।
 है स्वयं अपरिचित निज पथ से, पर उसको मार्ग बताता है ॥
 हो बड़ा आयु से, किन्तु बुद्धि से हो कोमल शिशु के समान ।
 निश्चय ही वह भटकायेगा, क्या दे पायेगा दिव्य ज्ञान ॥१२॥

प्रति भाति न जिसको संपराय, हो स्वयं मोह से मूढ़ बना ।
 कर्तव्य ज्ञान वह क्या देगा, जो नास्तिकता में स्वयं सना ॥
 यम-नियम पसंद न हों जिसको, जो हो उनसे अनभिज्ञ तात ! ।
 क्या योग बतायेगा जग को, जिसका माया से लिप्त गात ॥१३॥

है ज्ञान अलभ्य अधिकतर को, बिरला ही उसको पाता है ।
 यदि मिले कुशल गुरु जीवन को, तब कुछ-कुछ भीतर आता है ॥
 कितना भी चिन्तन क्यों न करें, साधारण उसे न पाते हैं ।
 जब ज्ञान बतायें गुरु विशेष तब, कुछ रहस्य खुल पाते हैं ॥१४॥

निज तर्क-कल्पना से उसको जो दूर नहीं कर देते हैं ।
 गुरु की प्रतिभा का ले प्रकाश उसका आश्रय गह लेते हैं ॥
 वह ही पाते हैं ब्रह्म ज्ञान, जो अणु से भी है बहुत सूक्ष्म ।
 इन्द्रियों से परे वह अग्राह्य, औ तर्क बुद्धि से भी अरूप ॥१५॥

पर तर्क बुद्धि भी हो प्रज्ञा में, श्रद्धा भी हो विद्यमान ।
 धारणावती हो धृति सच्ची, जिज्ञासु भाव भी भासमान ॥
 कामना तरंगों को भी शतशः श्रद्धा से विस्तार करें ।
 अनुभवी गुरु की शरण गहें, पथ-दर्शक उसको निजी करें ॥१६॥

निर्भीक बढ़े उस सीमा तक, हो जहाँ नाद उसका सुमधुर ।
 जय-जय ध्वनि जहाँ गूँजती हो, होता न जहाँ कुछ कर्कश स्वर ॥
 अविकार दृष्टि हो, जगत-प्रतिष्ठा निज आँखों से लख पाये ।
 सबकी उन्नति से हो हर्षित, सबका सुख लखकर हर्षये ॥१७॥

इन्द्रियों की दिशा से हटकर, आत्मा की ओर बढ़े हर्षित ।
 विषयों को त्याग विरक्त बने, पर कर्मयोग में हो कर्षित ॥
 द्वन्द्वों से हो उपराम, हर्ष औ शोक समान लखे प्रतिक्षण ।
 आनन्द लक्ष्य पर रखे दृष्टि, जीते जीवन का भौतिक रण ॥१८॥

है सब धर्मों का लक्ष्य परम, वह ब्रह्म विमल आनन्द-स्रोत ।
 जो उसे प्राप्त कर लेता है, गाता है उसका महा स्रोत ॥
 आनन्द मात्र ही है जिसमें, है दुःख ताप का नहीं भाव ।
 तेरे समक्ष मैं उसी ब्रह्म का गान करूँ रख हृदय-चाव ॥१९॥

इच्छा करते जिसकी तापस, ज्ञानी जन जिस को ध्याते हैं ।
 जिसका गुणगान वेद करते, उस पद को तुझे बताते हैं ॥
 संक्षेप रूप से सुनो वत्स ! प्रभु जगन्नियन्ता का स्वरूप ।
 वह अक्षर अव्यय और सनातन अविनाशी है ओ३म् रूप ॥२०॥

यह ओ३म्, ईश का वाचक-ग्राहक दोनों ही है नचिकेता ।
 है परे और सबके भीतर भी व्यापक वह संसृति-जेता ॥
 है यह अवलम्बन सर्वश्रेष्ठ विश्व का, प्राणियों का भी प्रिय ।
 आद्यन्त इसी में निहित पड़ा, इससे ही है संसृति सक्रिय ॥२१॥

उस अविनाशी-अच्युत अव्यय का आश्रय जो अपनाता है ।
 बनकर सर्वोत्कृष्ट प्राणी, अन्ततः मोक्ष-पद पाता ॥
 पूजित होता है बन महान, वह विश्वपुरुष कहालाता है ।
 युग-युग तक उसका अमर गान, प्रतिनर आदर से गाता है ॥२२॥

यह आत्मा भी है अजर-अमर, चेतन अविनाशी सत्ता है ।
 है नित्य अजन्मा और पुरातन निज कर्मों का भर्ता है ॥
 है जन्म-मरण से रहित सर्वथा, केवल आता जाता है ।
 यह शाश्वत औ चिर कालिक है, मृत्यु से देह का नाता है ॥२३॥

कोई न मार सकता इसको, अभिमान सर्वथा मिथ्या है ।
 यह सूक्ष्म और अणु है, पर इसके बंधी साथ में इच्छा है ॥
 ईश्वर अणु से भी अणुतर है, अत्यन्त महत् से भी महान ।
 वह हृदय गुहा में भी व्यापक, जग के बाहर भी व्याप्तिमान ॥२४॥

कर्मों के फन्दों से जकड़ा, अकड़ा-अकड़ा जो फिरता है ।
 वह प्राप्त न उसको कर पाता, अन्ततः दुःखों से घिरता है ॥
 उस धाता की अनुकम्पा से ही उसे जानते श्रेष्ठ प्रवर ।
 उसके प्रसाद से ही उसको लख पाता कोई-बिरला नर ॥२५॥

जग के आसन पर भ्राजमान, सर्वथा दृष्टि रखता अपनी ।
 आवागमनों से रहित ईश, सब पर सत्ता रखता अपनी ॥
 मद और अमद से रहित, सर्वदा विश्वदेव को जो माने ।
 है कौन विश्व में सिवा मृत्यु के, जो उसका रहस्य जाने ॥२६॥

अशरीरी रहकर वह सदैव, सबके शरीर में व्यापक है ।
 मिलता न भाषणों औ तर्कों से, वह जग का संस्थापक है ॥
 अस्थिर जगती में भी व्यापक, वह विद्यमान-विभु है सदैव ।
 जानते धीर शुभ चिन्तन से, दुख रञ्च मानते कभी नैव ॥२७॥

जिसको कर लेता वरण ईश, अपना स्वरूप बतलाता है ।
 आत्मा में दिव्य प्रकाश विभा भर, अपना रूप दिखाता है ॥
 जो लिप्त दुराचारों में है, जो है अशान्त-उलझा, चञ्चल ।
 वह उसे न लखपाता कदापि, जिसकी प्रज्ञा है, नहीं विमल ॥२८॥

वह विश्व-विधायक और विनाशक दोनों बल से युक्त सदा ।
 अध्यात्म और भौतिक दोनों का, क्षेत्र तुल्य है ईश मुदा ॥
 उसके सम्मुख ये उभय शक्तियां हैं ओदन की भाँति पुत्र ! ।
 दोनों हैं उसके ग्रास तुल्य, दोनों ही है उसकी अजस्र ॥२९॥

तीसरी शक्ति है विश्व विनाशक, मृत्यु उसे ही कहते हैं ।
 ओदन के घृत भांति उसे भी जगन्नियता दहते हैं ॥
 कोई न जान पाता उसको, कब और कहाँ से आती है ।
 देखते-देखते आँखों के, सबको निज ग्रास बनाती है ॥३०॥

अब और सुनो जो पञ्च यज्ञ को, नियमित करते हैं मन से ।
 वे कर्मकाण्डी सुख पाकर, मेटते दुःख भौतिक तन से ॥
 होकर सुकृती जीवन जीते, पाते प्रकाश परमेश्वर का ।
 तत्त्व का यथार्थ ज्ञान पाकर, गुण अपनाते ऊँचे नर का ॥३१॥

जो तीन अग्नियों का सेवन करते हैं पाते सत्य ज्ञान ।
 ऋत का यथार्थ प्रारूप समझ, हो जाते हैं अतिशाय महान ॥
 ज्ञानी-कर्मी में भेद किन्तु, छाया-आतप का रहता है ।
 यद्यपि हैं दोनों परम श्रेष्ठ, दोनों का त्रय दुख दहता है ॥३२॥

निरपेक्ष और सापेक्ष सत्य, ऋत और सत्य कहलाता है ।
 दोनों में पर निरपेक्ष सत्य को ऊँचा शास्त्र बताता है ॥
 इसलिए ज्ञान का मन्थन कर, निरपेक्ष सत्य को कर धारण ।
 पाते हैं ज्ञानी मोक्ष मार्ग, जो है अन्नत सुख का कारण ॥३३॥

आत्मा है रथी, शरीर सुरथ, है बुद्धि सारथी के समान ।
 मन है प्रग्रह के तुल्य वत्स ! इन्द्रियाँ अश्व इव भ्राजमान ॥
 विषयों का ये सेवन करतीं, मार्ग में उलझ रह जाती हैं ।
 आत्मा-मन से यदि मिल जायें, तब लक्ष्य सिद्ध कर पाती हैं ॥३४॥

पर जो नर हैं विज्ञान-शून्य, वे इनको रोक न पाते हैं ।
 स्वच्छन्द इन्द्रियों के द्वारा, अपना अस्तित्व नशाते हैं ॥
 लेकिन विज्ञान युक्त ज्ञानी, इनको वश में कर लेते हैं ।
 अच्छे सारथी-समान सद्य, सफलीभूतित नर होते हैं ॥३५॥

विज्ञानवान जिस मानव का, मन जुड़ जाता है आत्मा से ।
 कुविचार रोक शतशः अपना, सुख पाता है परमात्मा से ॥
 पर जो अज्ञानी मनन-शून्य, अपवित्र बुद्धि रखने वाला ।
 पाता न अभीष्ट लक्ष्य को वह, भ्रमता रहता बन मतवाला ॥३६॥

इन्द्रियां स्वयं स्वामी बनतीं, वह दास-तुल्य बन जाता है ।
 उलझा रह जाता जन्म-मरण में, औ अनन्त दुख पाता है ॥
 जिसकी सारथी (बुद्धि) मन से इन्द्रिय को वश में कर लेती ।
 संसार मार्ग वह पा लेता, आत्मा अमर पथ धर लेती ॥३७॥

वह विष्णु का महत् पद पाकर, दुःखों से ऊपर उठ जाता ।
 कर प्राप्त मोक्ष का परम धाम, भव सिन्धु संतरण कर जाता ॥
 इन्द्रियाँ हमारी स्थूल बनीं, पर विषय सभी हैं सूक्ष्म रूप ।
 वे हैं अलक्ष (दीखते नहीं), रहते हैं छिपकर निहित रूप ॥३८॥

स्पर्श, रूप, रस, गन्ध-शब्द, ये ही हैं इन्द्रिय विषय तात ! ।
 इनसे भी परे हमारा मन, छिपकर करता जो महोत्पात ॥
 संकल्प-विकल्प कार्य इसका, स्थिर न बैठता है एक क्षण ।
 चित्त को हिंडोले के समान झकझोर झुलाता है प्रतिक्षण ॥३९॥

आलोड़ित रखता काया को, सुस्थिर न उसे होने देता ।
 क्षणदा सम चञ्चल चमक लिये, चकमक कुलांच भरता रहता ॥
 यद्यपि है इससे परे बुद्धि, पर उसको नाच नचाता है ।
 इसके कारण ही बना अनिश्चय, निश्चय सकल नशाता है ॥४०॥

यदि निश्चयात्मक बुद्धि बने, तब तो मन को कस लेती है ।
 प्रज्ञा में उत्तम शक्ति जगा, उसको वश में कर लेती है ॥
 बुद्धि से परे औ सूक्ष्म चित्त, चित्त से सूक्ष्म है अहंकार ।
 उससे भी सूक्ष्म आत्मा है, नर-चेतनता का महाद्वार ॥४१॥

ब्रह्माण्ड भिन्न है आत्मा से, पिण्ड भी हमारा भिन्न बना ।
 हैं प्रकृति-विकृति ये दोनों ही, इनमें है विषय विलास सना ॥
 जो यह ब्रह्माण्ड दीखता है, इसके भी हैं प्रिय! युगल रूप ।
 अव्यक्त-व्यक्त है प्रकृति-विकृति, ईश्वर है इसका महाभूप ॥४२॥

जो दृश्य जगत के पहले था, वह ही है कारण मूल-नित्य ।
 साम्यावस्था का वह स्वरूप है, अगम अगोचर अरु अचिन्त्य ॥
 उससे भी सूक्ष्म पुरुष (ईश्वर) सूक्ष्मता वहीं थम जाती है ।
 उस परम सूक्ष्म को ज्ञान पूर्ण, पावन प्रज्ञा धर पाती है ॥४३॥

जिसकी आत्मा में विमल ब्रह्म का दिव्य रूप आ जाता है ।
 वह भाग्यवान उस विकृति-प्रकृति से अति ऊपर उठ जाता है ॥
 वह परम बाह्य, अन्तर्जगती औ बाह्य जगत में विद्यमान — ।
 रहता सदैव-सर्वत्र व्याप्त, सबका स्वामी जग विभावान ॥४४॥

जीवन यत्रा के अन्त लक्ष्य को वही पुरुष धर पाता है ।
 जो सूक्ष्म बुद्धि से इन्द्रिय-तन को उसकी ओर चलाता है ॥
 एकाग्र करे मन-वाणी को, बनकर प्रकृष्ट ज्ञानी महान ।
 तब मिले शान्ति का स्रोत, जगे जब आत्मतत्त्व में ब्रह्मज्ञान ॥४५॥

इसलिए उठो बन जागरूक शरणागत हो उनकी जाकर ।
 आयेगी मनः शान्ति निश्चय ! उन आत्मज्ञानियों को पाकर ॥
 जिनको वरदान मिल चुका है, जो प्राप्त कर चुके हैं प्रकाश ।
 पहुँचों उन ब्रह्मज्ञानियों में, हो जायेगा तम का विनाश ॥४६॥

पर इतना ध्यान रहे प्रतिक्षण, है ज्ञान छुरे की अग्र धार ।
 दुर्गम-दुरत्य वह पथ दुरुह, उस पर चलना है असम्भार ॥
 है ब्रह्म रूप, रस, गन्ध हीन स्पर्श-शब्द से भी ऊपर ।
 उत्पत्ति-विनाश न हो उसका, वह है महान, ध्रुव, नित्य-अमर ॥४७॥

वह निश्चल शान्त एक रस है, जो यह निश्चय कर लेता है ।
छूटता मृत्यु के मुख से वह नर, अमर पन्थ धर लेता है ॥
है यही सनातन उपाख्यान जो स्वयं मृत्यु ने गाया है ।
हे नचिकेता तुमको मैंने यह श्रद्धा सहित सुनाया है ॥४८॥

जो मेधावी इसको कहता-सुनता, महिमा वह पाता है ।
यह मृत्युलोक, तर अन्तकाल में ब्रह्मलोक को जाता है ॥
जो ज्ञानी जन इस गूढ़ ज्ञान का श्रद्धा पूर्वक श्रवण करें ।
उनको अनन्त फल मिलता है, यदि सच्चेमन से मनन करें ॥४९॥

अब सुनो रहस्य और ऊँचा, प्रिय नचिकेता! बतलाता हूँ ।
जगकी रचना का गूढ़ तत्व प्रत्यक्ष तुझे दिखलाता हूँ ॥
जगकर्ता ब्रह्म स्वयंभू ने काया ऐसी निर्माण किया ।
रच वहिर्मुखी इन्द्रियां सकल, मानव को मङ्गल दान दिया ॥५०॥

लखती हैं बाह्य जगत को ये, भीतर न कभी लख पाती हैं ।
आत्मा की ओर न गति इनकी, केवल बाहर भटकाती हैं ॥
कोई बिरला ही धीरवान, प्रज्ञा से भीतर लखता है ।
विषयों से विमुख आत्मा में प्रभु-दर्शन का फल चखता है ॥५१॥

साधारण-भोले लोग कामनाओं के पीछे भगते हैं ।
मृग मरीचिका इव वे भगतीं, उनके पीछे ये लगते हैं ॥
उनको तो क्या धर पाते वे, मृत्यु में उलझ रह जाते हैं ।
अध्रुवों में अस्थिर होकर, अपना सर्वस्व नशाते हैं ॥५२॥

उनको क्या ज्ञात विषय सारे प्रभु के प्रेरण से चलते हैं ।
यदि हाथ खींच लेवे वह प्रभु, सद्यः विलीन हो सकते हैं ॥
रूपादि विषय से ले मैथुन सत्ता पर तक उसकी छाया ।
यदि वह न रहे, तो कुछ न रहे, वास्तविक उसी की सब माया ॥५३॥

वह ही है ब्रह्म सनानत स्वामी, परिमाणी परिणामों का ।
 उसमें सारा ब्रह्माण्ड बंधा, वह है विराट आयामों का ॥
 निद्रा का ज्ञान कराता है, निश्चिंत सुषुप्त आत्मा को ।
 जगने पर सुख अनुभव होता, उस सोई हुई आत्मा को ॥५४॥

जाग्रत औ स्वप्नावस्था में, सुख-दुख का छोर देखता है ।
 पर धीर-आत्मा जो महान है, नहीं दुखों में पड़ता है ॥
 दुख-शोक आदि का कारण है क्षुद्रता, इसे लो सत्य मान ।
 जो इसे त्याग दे तन्मय हो, वह ही बन जाता है महान ॥५५॥

जीवात्मा तो मधु प्रेमी है, यह मधुता सदा चाहता है ।
 कटुता न कभी इसको भाती, यह उससे दूर भागता है ॥
 अज्ञान अविद्या के कारण पर उससे दूर न रह पाता ।
 भौतिक मिठास की माया में, यह बरबस उसमें फंश जाता ॥५६॥

पछताता है पीछे परन्तु, जब वह कटुता दुख देती है ।
 हर लेती ज्योति शिखा तन की, घन अन्धकार भर देती है ॥
 इन विषयों की मिठास के पीछे छिपकर बैठी रहती है ।
 अवसर पाने पर उन्हें दबा, झट विकट रूप धर लेती है ॥५७॥

केवल आँसू-पछतावा का ही अवलम्बन रह जाता है ।
 कटुता से पूर्ण आत्मा जब अपना सर्वस्व नशाता है ॥
 लेकिन जब ब्रह्म-मधुरता को आत्मा हर्षित अपनाती है ।
 तब शनैः-शनैः उसकी मिठास, आनन्दित करती जाती है ॥५८॥

बढ़ती जाती है वह प्रतिदिन, आनन्द-सुधा की बनी स्रोत ।
 तब विमल ब्रह्म के गायन का प्रकटित होता है महास्रोत ॥
 जीवात्मा के इस मधु स्वभाव को होकर निकट उसे जाने ।
 उस भूत-भविष्यत् के स्वामी को ज्ञान-नेत्र से पहचाने ॥५९॥

फिर उसे न कभी न ग्लानि होती, सर्वत्र मानता है प्रभु को ।
जो उसका पावन रूप समझ, सर्वत्र जानता जग-विभु को ॥
सत्ता यथार्थ आत्मा की है, परमात्मा इसका स्वामी है ।
हैं सत्य सनातन दोनों ही, पर वह प्रभु अन्तर्यामी है ॥६०॥

जग के पहले भी ईश्वर था, आज भी सर्वथा विद्यमान ।
पीछे भी वही नाथ होगा, है यही सत्य, यह सत्यमान ॥
उसने ही अपने तप-बल से ऋत और सत्य की रचना की ।
निज उग्र क्रिया से ही उसने साकार सृष्टि निर्वचना की ॥६१॥

वायव्य अवस्था रचा प्रथम, आग्नेय तत्व फिर विस्तारा ।
तदनन्तर रचा जलीय तत्व, जग-जीवन उसने संचारा ॥
जड़-चेतन जग उत्पन्न किया, हो समाविष्ट उसके भीतर ।
अब भी वैसे ही है व्यापक, सबके भीतर वह वैश्वानर ॥६२॥

हो भ्राजमान सब तत्वों में वह आँख मिचौनी करता है ।
कण-कण में व्यापक वह ईश्वर, सबकी गति सदा देखता है ॥
जो ज्ञानी उसे देख लेता, वह कह उठता यह ही तो है ।
पर जो न जान पाता उसको वह कहता कहीं भी नहीं है ॥६३॥

देवतामयी वह ब्रह्म शक्ति, है अदिति स्वरूपा मातृ तुल्य ।
एकाग्र साधना से प्रकटित होती सदैव भव-अग्नितुल्य ॥
अपना आयाम बढ़ाने को जो प्राणायाम साधते हैं ।
संयम से मन को वश करके, आत्मा के साथ बाँधते हैं ॥६४॥

सर्वत्र उसे लख लेते वे, झट कह उठते यह ही तो है ।
यह बैठा है तू देख उसे, प्रत्यक्ष ब्रह्म यह ही तो है ॥६५॥

॥ दोहा ॥

जो प्राणों को प्राण दे, करे विश्व-उत्पन्न ।

ज्ञानी देखें हृदय में, मूरख से प्रच्छन्न ॥

जो साधक चिन्तन करे, आत्म गुहा में बैठ ।

वह देखे तत्रैव ही, इष्टदेव की पैठ ॥

जैसे अरणी में अग्नि निहित, ज्यों रहे गर्भिणी में बालक ।
 त्यों भूत-भविष्यत् का स्वामी, छिप कर रहता जग-संचालक ॥
 जिसकी हो ऐसी दृष्टि विमल, वह कह उठता यह ही तो है ।
 वह बैठा है यह देख यहाँ, अपना स्वामी यह ही तो है ॥६६॥

प्रतिदिन स्तुति के योग्य वही, है जिसकी तुझको जिज्ञासा ।
 हवि उसे समर्पित कर अपनी, होगी अवश्य पूरी आशा ॥
 वह ही प्रतीक वैश्वानर है, तू जिसे जानना चाह रहा ।
 यह बैठा है तू देख उसे, उसका स्वरूप क्या जाय कहा ॥६७॥

जिससे यह सूर्य उदय होता, जिसमें हो जाता फिर विलीन ।
 यह उदय-अस्त लीला उसकी, है ब्रह्म कला नित ही नवीन ॥
 उसको न लाँघ सकता कोई, सब देव उसी में हैं तिष्ठित ।
 सर्वत्र प्रतिष्ठित वह ईश्वर, सचराचर उसमें ही स्थित ॥६८॥

॥ दोहा ॥

जो जाने उस ब्रह्म को, रहे न माया-लीन ।

दासी उसकी मृत्यु हो, भगे भावना दीन ॥

॥ सोरठा ॥

**मन में दृढ़ता धार, जो ध्यावे उस ब्रह्म को ।
उसका हो संसार, रहे न रञ्जक भिन्नता ॥**

जो यहाँ, वही है वहाँ व्याप्त, जो वहाँ वही है यहाँ ब्रह्म ।
है मृत्यु उसी के बन्धन में, भक्तों को करता अमर ब्रह्म ॥
नानारूपों और नामों से जो उसे भजे वह अज्ञानी ।
छूटे न मरण औ जन्मों से, जकड़ा रहता वह अभिमानी ॥६९॥

मन से ही है जानने योग्य परमात्म तत्त्व, उसको जानो ।
नाना भावों से कुछ न बने, उस पर ही दृढ़ आस्था आनो ॥
जो उसे छोड़ जग के तत्वों में अपना ध्यान लगाता है ।
जन्मता और मरता रहता, परधाम न प्राणी पाता है ॥७०॥

अङ्गुष्ठ मात्र में परमपुरुष, हृदस्थित करता वास सदा ।
है भूत भविष्यत् का स्वामी, शासन कर्ता जग पर प्रमुदा ॥
जो उसे जान लेता, निन्दा से रहित जगत में जीता है ।
प्रत्यक्ष ब्रह्म का रूप यही, क्यों फिरता रीता-रीता है ॥७१॥

वह धूम रहित दीपक समान, सबका शासक है विभावान ।
जो कल भी था, आज भी वही, आगे भी होगा विद्यमान ॥
है सर्वाध्यक्ष पवित्र ब्रह्म, ऐश्वर्यवान जग-अधिकारी ।
अपने कर्मों का स्वयं अधिष्ठाता है, निर्मल अविकारी ॥७२॥

जैसे पर्वत पर हुई वृष्टि का जल नीचे ही जाता है ।
कारण उसका स्थूल सिन्धु से प्राकृत पक्का नाता है ॥
त्यों भिन्न-भिन्न धर्मों को तज ज्ञानी उसको ही ध्याते हैं ।
हो माया से उपराम, ब्रह्म में ही निज ध्यान लगाते हैं ॥७३॥

अन्यथा करे प्राकृत पूजा जो, स्थिर वह न कभी होता ।
 दौड़ता जगत के द्रव्यों में, ब्रह्म का विमल आश्रय खोता ॥
 ज्यों पड़ा शुद्ध जल में, अशुद्ध जल भी पवित्र हो जाता है ।
 त्यों विमल ब्रह्म के आश्रय से आत्मा निर्मल हो जाता है ॥७४॥

एकादश द्वारों का शरीर, है परमेश्वर का दिया हुआ ।
 इसका प्रत्येक अङ्ग विधिवत्, उसके हाथों का सिया हुआ ॥
 ऐसा चिंतन कर जो ज्ञानी, उसमें ही ध्यान लगाते हैं ।
 वे शोक मुक्त होकर, विमुक्त आनन्द परम पद पाते हैं ॥७५॥

देहान्त समय में छोड़ देह, जाता अन्यत्र जीव प्यारा ।
 इसलिए हंस है यह आत्मा, यह अतिथि, विश्व से है न्यारा ॥
 है जन्म-मरण अज्ञात उभय, आना-जाना भी अनज्ञात ।
 इसलिए अतिथि के तुल्य जीव, रहता है अविवेकी अजात ॥७६॥

यह ईश्वरीय नियमों में बंधकर, विविधि योनियों में बसता ।
 हृदयस्थित रहता है तन में, बन विश्व-यज्ञ का प्रिय होता ॥
 पृथिवी पर यज्ञ किया करता, नाना प्रकार के कर्मों का ।
 वाणी में प्राण, प्राण में वाणी का, लय करता मर्मों का ॥७७॥

जैसी योगी अपने बसने को कुटी पवित्र बनाता है ।
 वैसे ही आत्मा श्रेष्ठ मनुज तन में ही सब सुख पाता है ॥
 जब सत्य ब्रह्म में स्थित हो, पावन कर्मों को करता है ।
 तब सूक्ष्म शरीर साथ में रख, यह परम मोक्ष में रहता है ॥७८॥

अन्यथा अनेक योनियों में कर्मानुसार आता-जाता ।
 जल-थल में और व्योम में भी विचरण करता है दुःखपाता ॥
 जिसने यथोक्त साधन साधा, सम्यक चिन्तन कर ईश्वर का ।
 अपने स्वरूप में हुआ अवस्थित, बना पात्र प्रिय प्रभुवर का ॥७९॥

॥ दोहा ॥

योगाभ्यास यथेष्ट कर, उन्नत करता गात ।
साधक बनकर प्राण का, शम करता उत्पात ॥

॥ छन्द ॥

उत्पात करता शमन तन का, साधना कर प्राण की ।
हृद, नाभि, कण्ठ-अपान से बाधा हरे व्यवधान की ॥
ऊपर उठा नीचे ढकेले, हृदय में भर प्राण को ।
सर्वेन्द्रियों का बन वशी, स्थिर रहे कर ध्यान को ॥
अन्तःकरण हो शुद्ध-निर्मल, शक्तियाँ तन की जगें ।
आराध्य के सुप्रताप से, दुःख-ताप काया में भगें ॥
निर्मोक छोड़े मोह का, जीवात्मा कृतकृत्य हो ।
राजा करें स्वीकार उसको, आत्मा तद् भृत्य हो ॥
क्या चिन्ह रहता शेष, जब यह जीव जाता है चला ? ।
कुछ भी नहीं, भज ईश को परिपूर्ण तब होगा भला ॥
जो दुःख व्याधि शरीर के आवागमन से मुक्त है ।
है विमल ब्रह्म स्वरूप यह ही, पूर्ण नित्य अभुक्त है ॥

॥ सोरठा ॥

परम गूढ़ से गूढ़, एक रहस्य और सुनो ।
समझ न सकते मूढ़, ज्ञानी ही जानें इसे ॥



केवल अपान की शक्ति मात्र से जीवित रहता व्यक्ति नहीं ।
ये तो उसके उप आश्रय हैं, जीवात्म तत्त्व है नित्य सही ॥
जड़-चेतन के संयोग मात्र से ही है सुन्दर बना गात ।
सारा शरीर समुदाय इसी से शोभित होता सुनो तात!! ॥८०॥



हैं एक दूसरे पर आश्रित, आश्रय दाता है परमेश्वर ।
 उसके आधार सृष्टि सारी, रहती है विद्यमान प्रियवर!! ॥
 एकाग्र चित्त हो ध्यान लगा, कुछ और रहस्य बताता हूँ ।
 अधिकारी समझ तुझे, इस गोपन विद्या को प्रकटाता हूँ ॥८१॥

जिससे अनभिज्ञ जीव रहकर संसार चक्र में भ्रमता है ।
 वह सत्य सनातन ब्रह्म ज्ञान, यमराज तुझे अब कहता है ॥
 जो ईश-ज्ञान से रहित जीव हैं, बंधे वासना-माया में ।
 जो शास्त्रज्ञान का बोध न रखते, रमे सर्वदा काया में ॥८२॥

वे बंधे वासना की डोरी से, खिंचे हुए आते-जाते ।
 मुक्ति से सर्वथा वञ्चित रह, हैं विविधि योनियों को पाते ॥
 जैसे-जितने हों कर्म शुभाशुभ, तद्वत् जीवन पाते हैं ।
 निज कर्म-भोग हित, अति निकृष्ट अरु मध्यम आयु बिताते हैं ॥८३॥

धारण करते पुनि-पुनि शरीर रुधिराक्त योनि से सने हुए ।
 मरणान्तर पाते पुनः जन्म, अपने कर्मों से बंधे हुए ॥
 वह अन्तर्यामी परम पुरुष, ब्रह्माण्ड व्याप्त जग का स्वामी ।
 काया निर्माण किया करता, कामना पूर्ति हित निज धामी ॥८४॥

सोते-जगते सब जीवों को सर्वज्ञ वह पुरुष लखता है ।
 जानता यथावत् सब जग को, अपने बन्धन में रखता है ॥
 महतो महान वह शुद्ध, अमृत-अविनाशी ब्रह्म सनातन है ।
 सब लोक उसी में हैं ठहरे, वह माया रहित निरञ्जन है ॥८५॥

जिसका उल्लंघन कोई भी कर सकता नहीं, सदा अजेय ।
 उसके नियमों को तोड़े, ऐसा पुरुष न कोई अप्रमेय ॥
 है वही ब्रह्म सर्वोपरि, जिसका रूप जानना चाह रहा ।
 वह नित्य-मुक्त है, अतुलनीय, उससे ही हो कल्याण महा ॥८६॥

जैसे सर्वत्र व्याप्त पावक नाना रूपों में हो भासित ।
 त्यों सर्वभूत अन्तर व्यापक अन्तर्यामी हो प्रतिभासित ॥
 उसका ही तेज सकल जड़-चेतन को देता सुन्दर स्वरूप ।
 है रूपवान उससे ही जग, पर वह सुन्दरतम है अरूप ॥८७॥

वह ही घन माला में विद्युत्, वह ही है दिनकर में प्रकाश ।
 सर्वत्र व्याप्त अति सूक्ष्मरूप से, करता जड़-चेतन विकास ॥
 सबकी छवि उसकी ही प्रदत्त, सबकी शोभा उसकी रचना ।
 है पूर्ण अवस्थित वह सबमें, सबकी वाणी वह निर्वचना ॥८८॥

ज्यों सूक्ष्म वायु सबमें व्यापक तद्वत् स्वरूप दर्शाता है ।
 वैसे ही सकल चराचर में व्यापक प्रभु देखा जाता है ॥
 सबके दर्शन का हेतु सूर्य, सबके प्रभाव से रहित बना— ।
 होता है भासित एक रूप, सबको प्रकाश देता अपना ॥८९॥

तैसे ही दोष रहित ईश्वर, सब जीवों का अन्तर्यामी ।
 रहता निर्लेप सर्वथा वह, माया से ऊपर जग-स्वामी ॥
 है सर्व नियन्ता एक वशी, एक से अनेकों रचता है ।
 आत्मस्थ उसे जो जन देखे, वह धीर दुंखों से बचता है ॥९०॥

अन्यों को मिले न शाश्वत सुख, वह ही चेतना चेतनों की ।
 है सर्वश्रेष्ठ सबका आश्रय, सबकी रचना उस चेतन की ॥
 कर्मानुसार फल का दाता, सबके समर्थ का है दायक ।
 उससे ही परम शान्ति मिलती, वह ही मेरा-तेरा नायक ॥९१॥

इस भाँति उसे जो धीर पुरुष, आत्मस्थ मानकर चलते हैं ।
 पड़ते न अशान्ति सिंधु में वे, कामना दिव्य जो करते हैं ॥
 उत्पत्ति-धर्म से भिन्न ब्रह्म, सब द्रव्यों में व्यापक समान ।
 वह चेतन नित्य, आत्माओं में भी रहता है विद्यमान ॥९२॥

चेतन का भी चेतन कर्ता, उसकी चेतना महत्तम है ।
 परिच्छिन्न चराचर द्रव्यों में भी अपरिच्छिन्न सर्वेश्वर है ॥
 दे यथायोग्य कर्मों का फल, पर स्वयं कामना रहित रहे ।
 आत्मा में जो उसको देखे, शाश्वती शान्ति का लाभ गहे ॥९३॥



बोला नचिकेता यमाचार्य के बचनों को सुन, ले आशा ।
 जिज्ञासा उसकी और जगी, गुरु बोलें इसकी परिभाषा ॥
 व्याख्यान गुणी जन देते हैं, प्रत्यक्ष न उसको दिखलाते ।
 ऐसा ही है वह ब्रह्म, न कोई दर्शन उसका करवाते ॥९४॥

॥ दोहा ॥

क्या वह सूर्य समान है ? तैजस भरा प्रकाश ।
 जब परोक्ष रहता सदा, कैसे हो विश्वास ॥
 किस प्रकार अनुभव करूँ, ऐसा है वह ईश ।
 कैसे हो अपरोक्ष वह, विश्व विरज जगदीश ॥



मैं क्या उपमा दूँ वत्स सुनो जिससे हो ज्ञान तुम्हें पूरा ।
 मिट जाये मन की भ्रान्ति, और प्रत्यय भी उस पर हो पूरा ॥
 है वहाँ न सूर्य, नहीं शशि भी, है किसी ज्योति का नाम नहीं ।
 इस भाँति न विद्युत का प्रकाश आँखों में भरता चनक कहीं ॥९५॥

फिर वहाँ अग्नि की कौन कहे, जब किसी ज्योति का लेश नहीं ।
 कारण हैं सभी विलुप्त जहाँ, जग-ज्योति न दीखे वहाँ कहीं ॥
 लेकिन उसके प्रकाश से ही, ये सभी प्रकाशित होते हैं ।
 उस महाज्योति से ही भासित होकर प्रकाश ये देते हैं ॥९६॥

इतना दीपित वह विभावान है, और उसे क्या बतलाऊँ ।
 प्रत्यक्ष प्रकाश उसी का सब, वह दीप्ति तुम्हें क्या दिखलाऊँ ॥
 इतना ही दृढ़ विश्वास करो, अन्तर पट जब खुल जायेगा ।
 हो जायेगा प्रत्यक्ष ब्रह्म, तब दिव्य ज्ञान आ जायेगा ॥९७॥

॥ इति चतुर्थ खण्ड ॥

॥ ओ३म् ॥

॥ अथ पञ्चम खण्ड ॥

वह ब्रह्म सनातन मूल भूत पुरुषोत्तम सबसे ऊपर है ।
सूक्ष्मातिसूक्ष्म है सर्वश्रेष्ठ, उसके नीचे जग नश्वर है ॥
उस महावृक्ष की ही शाखा, चर-अचर जगत की रचना है ।
अश्वत्थ अनादि ब्रह्म सत्ता, वह अकथनीय निर्वचना है ॥१॥

जिससे यह जग जीवन पाता, जिसकी अनुकम्पा से रक्षित— ।
रहती है यह संसृति सारी, उसको बैठाओ अपने चित्त ॥
है वही विशुद्ध तत्व, उसको ही अमृत विबुध जन कहते हैं ।
यह ही उसका प्रत्यक्ष रूप, ज्ञानी जन मन से लखते हैं ॥२॥

जिसका अतिक्रमण करने में, कोई भी नहीं समर्थवान ।
यह ही है वह परमात्म तत्व, ऐसा चिन्तन कर करो ध्यान ॥
उससे ही प्रकटा सकल विश्व, उससे ही है जग प्राणवान ।
उसका शासन सबके ऊपर रहता सदैव सर्वत्र मान ॥३॥

उसके ही भय से अग्नि तपे, सूर्य भी तप्त हो तपता है ।
वायु भी प्रवाहित उसके भय से, जग को जीवन देता है ॥
इन्द्र भी उसी से भय खाता, मृत्यु भी निरन्तर धावित है ।
उसका विश्वास अमर करता, प्रति कर्म वहीं सम्भावित है ॥४॥

यह देह नष्ट होने के पहले जो ज्ञानी उसको ध्याते ।
बच जाते पतन मार्ग से वे, उसका स्वरूप जो लख पाते ॥
अन्यथा अनेक योनियों में कल्पों तक आते-जाते हैं ।
भ्रमते हैं बंधे बन्धनों में, नाना कष्टों को पाते हैं ॥५॥

जीवन होता है तभी सफल, जब उसका अनुदिन धरे ध्यान ।
रुकता प्रवाह तब जन्म-मरण का, जब हो ईश्वर भासमान ॥
दर्पण में दीखेगा निज मुख, जब वह भी हो निर्मल सुन्दर ।
वैसे ही शुद्ध आत्मा में, ध्यानात् प्रकट होता ईश्वर ॥६॥

ज्यों स्वप्नावस्था में होता, इन्द्रिय-द्रव्यों का मेल नहीं ।
फिर भी प्रत्यक्ष दीखता सब, सुन पड़ता सब कुछ सही-सही ॥
त्यों विबुधों के उपदेश ज्ञान से आत्मा लखता ईश्वर को ।
प्रत्यक्ष न उसकी छवि होती, पर भासित होता अन्तर को ॥७॥

ज्यों धूप-छाँव प्रत्यक्ष दिखाई देता अपने नयनों को ।
त्यों निर्विकल्प यौगिक बल से, ज्ञानी देखें परमेश्वर को ॥
सम्यक समाधि से भेद, बुद्धि औ ईश्वर का अलगाता है ।
निर्बीज मूर्द्धा-मस्तक में, वह सृष्टि विधायक आता है ॥८॥

अर्थात् ध्यान से ही योगी, लखते समाधि में ओ३म्-रूप ।
स्पष्ट जानकर विमल ब्रह्म को, पाते मुक्त विमल स्वरूप ॥
गन्धर्वों द्वारा किये ज्ञान-विज्ञान गान के गायन से— ।
सुन श्रवण प्रकट होती श्रद्धा, ज्ञानी जन में सात्विक मन से ॥९॥

शब्दादि विषय उत्पत्ति-नाश, इन्द्रियाँ-शरीर आदि के गुण— ।
हैं पृथक् सनातन शुद्ध ब्रह्म से, बैठा मन जीतो जग-रण ॥
सत् और असत् का कर विवेक शोकाकुल होते नहीं धीर ।
आनन्द भोगते हो तन्मय, वीरुज रहता हर्षित शरीर ॥१०॥

इन्द्रिय औ उनके विषयों से, मन सूक्ष्म और निर्मल-पावन ।
मन से भी बुद्धि सूक्ष्म-उत्तम होती है, आत्मा की तारन ॥
उससे भी सूक्ष्म आत्मा है, अव्यक्त महान शक्तिशाली ।
उससे भी कारण उत्तम है निर्मल भी सूक्ष्म प्रगतिशाली ॥११॥

अव्यक्त प्रकृति जिसको कहते, वह सबका उपादन कारण ।
 उससे भी उत्तम-सूक्ष्म पुरुष, ब्रह्माण्ड-शान्ति का स्थापन ॥
 वह व्यापक चिह्न रहित अशरीरी शुद्ध-सूक्ष्म से महा सूक्ष्म ।
 जो ज्ञानी उसे जान लेता, भोगता मोक्ष का फल अनूप ॥१२॥

अपने इन नयनों के आगे, प्रत्यक्ष न होता वह ईश्वर ।
 ये चर्मचक्षु देखें न उसे, मन से भी परे वैश्वानर ॥
 हृद में ही विमल मनीषी जन, उसका दर्शन कर सकते हैं ।
 चित्त में बुद्धि को स्थिर कर, ध्यानात् उसे लख सकते हैं ॥१३॥

॥ दोहा ॥

इस प्रकार जो ध्यान धर, पाते दर्शन विन्दु ।
 वही अमरता प्राप्त कर, बन जाते जग-इन्दु ॥
 पञ्च इन्द्रियां योग से, स्थिर हों जग-मुक्त ।
 रञ्जक छाया प्रकृति की रहे न, बने अभुक्त ॥
 चेष्टा रहित शरीर हो, रहे न कुछ भी ध्यान ।
 उसे प्राप्त हो परम गति, बुध जन करते गान ॥

॥ छप्पय ॥

योगीजन मन-ध्यान करें-, संसृति बिसरावें ।
 आत्मा हो निर्लेप, विषय सारे दब जावें ॥
 बुद्धि बने निश्चेष्ट, चित्त स्थिर जब होवे ।
 रहे ब्रह्म अभिलाष मात्र, जग-इच्छा सोवे ॥
 ध्यान-धारणा में विमल, परमेश्वर-आधार हो ।
 तब निश्चित इस जगत से, आत्मा का उद्धार हो ॥



मन और इन्द्रियों को समेट हो जाय चित्त एकाग्र तभी— ।
 धारणा शक्ति जागृत हो तब, चञ्चलता जागे नहीं कभी ॥
 एक ही जगह स्थिर होकर, बंध जाय चित्त तब लगे ध्यान ।
 वह एक तानता बनी रहे, हो मात्र ब्रह्म ही भासमान ॥१४॥

यह ही है योग, प्रमाद रहित जब योगी जन हो जाते हैं ।
 हर स्थिति में स्थिर होकर बस मात्र ब्रह्म को ध्याते हैं ॥
 हो जाय अस्त उदबुद्ध ध्यान, तब भी त्यागे वह योग नहीं ।
 रह सतत साधना रत दृढ़ता से, भगे नहीं अन्यत्र कहीं ॥१५॥

अभ्यास निरन्तर किया करे, साधक नित योग-मुक्त होकर— ।
 निश्चय पाये परमेश्वर को, स्मृतियाँ सोये जब खोकर ॥
 फिर भी वह अकथनीय होगा, वाणी न उसे गा पायेगी ।
 लख पायेंगे ये नेत्र नहीं, इन्द्रियाँ नहीं धर पायेंगी ॥१६॥

लेकिन अवश्य है सर्वेश्वर यह दृढ़ विश्वास जमाना है ।
 उत्कण्ठा बनी रहे प्रतिक्षण, औ प्रतिदिन ध्यान लगाना है ॥
 संतत रत रहे प्रयत्नशील बन, सत्ता प्रभु की स्वीकारे ।
 उद्वेलित होवे गात्र नहीं, निश्चय पूर्वक मन को मारे ॥१७॥

॥ दोहा ॥

तत्त्व भाव रख बुद्धि में, साधक साथे ध्यान ।
 शुद्ध हृदय में प्रकट हो, तब ईश्वर-विज्ञान ॥
 सकल कामनाएँ मिटें, जो-जो हों हृद्-व्याप्त ।
 मिले अमर पद तब परम, मनः शक्ति हो आप्त ॥

तब मनुज अमर हो जाता है, जब भली भांति होता अनुभव ।
 भोगता मोक्षसुख है सभ्यक, हो जाता क्षुद्र रूप यह भव ॥
 खुल जाती हैं ग्रन्थियां सभी, हो जाता हृदय अतीव विमल ।
 यह मर्त्य शरीर त्याग कर वह, अमरत्व प्राप्त करता निर्मल ॥१८॥

है पुण्डरीक सम शुद्ध हृदय, शत एक नाड़ियाँ हैं उससे ।
 उनमें से एक मूर्धा में जाकर मिलती है सुनो उसे ॥
 वह नाड़ी दिव्य सुषुम्णा है, है उर्ध्व कपाल गुहा उसकी ।
 यह जागृत हो जाती, तब जाती क्षुधा-पिपासा नर तनकी ॥१९॥

दूसरी नाड़ियां और एक सौ एक गात्र में रहती हैं ।
 वे मरण काल में आत्मा को अपने बन्धन में कसती हैं ॥
 मृत्यु के समय में इन्हीं नाड़ियों से तन-प्राण निकलता है ।
 निज कर्मों और वासनाओं से युक्त जीव भी उड़ता है ॥२०॥

फिर उन्हीं वासनाओं से प्रेरित, पाप-पुण्य अर्जन द्वारा ।
 पाता है विविधि योनियों को, कर्मानुसार यह पथहारा ॥
 फिर संसारिक बन्धन में पड़, भोगता विभिन्न कलेशों को ।
 भ्रमता है मूढ़ बना संसृति में, प्राप्त किये बहु देशों को ॥२१॥

अन्तर्यामी वह परम पुरुष, अङ्गुठ मात्र में रहता है ।
 सर्वदा जीव के हृदय मध्य-तिष्ठित हो लेखा लेता है ॥
 उसकी सत्ता है भिन्न किन्तु, ज्यों सीक मूंज में रहती है ।
 त्यों उसे पृथक करके देखें, ऋषियों की वाणी कहती है ॥२२॥

धैर्य से उसी को अमृत स्वरूप मानकर जो जन रहते हैं ।
 वह ही विशुद्ध अमरत्व तत्त्व को भोग, मोक्ष फल चखते हैं ॥
 वह ही है शुद्ध-पवित्र-दिनल, विद्या द्वारा उसको जानो ।
 वह ही सर्वज्ञ, जगत्-पालक विश्वास हृदय में दृढ़ आनो ॥२३॥

अज्ञान-अविद्या के बन्धन में बंधा जीव जग-भ्रमता है ।
छोड़ना चाहता नहीं इसे, पर विवश छोड़ना पड़ता है ॥
जो इस माया को सत्य मानता, वह अनन्त दुख पाता है ।
मृत्यु के समय में बड़े कष्ट से, रोता जग से जाता है ॥२४॥

हृदयान्तर्वर्ती जीवात्मा भी है अद्भुत मात्र में ही ।
यौगिक अभ्यासों के द्वारा, माया से मुक्त बने देही ॥
रहकर सचेत कैवल्य प्राप्ति हित, साधन जोड़े बन योगी ।
बन्धन भी कट जायें भव के, काया भी रहे नहीं रोगी ॥२५॥

इच्छा न करे फिर पुनर्जन्म की, तन-विभूति अर्जित करके ।
तब पाये ब्रह्म लोक निश्चय, भोगे अनन्त सुख तन तजके ॥
बस यही मुक्ति-सोपान वत्स, इस पर ही दृढ़ विश्वास करो ।
निज आत्म समृद्धि और उन्नति हित, उसी ब्रह्म की आस धरो ॥२६॥

यह विमल ब्रह्म विद्या जो जन निश्चल-निश्छल अपनायेंगे ।
वे व्यक्ति देव-नारायण से अमरत्व परम पद पायेंगे ॥
जो ब्रह्मज्ञान की इच्छा कर, गुरु की शुश्रूषा नित्य करें ।
शम-दम की प्रबल तितिक्षा से, अष्टाङ्ग योग का वरण करें ॥२७॥

यौगिक साधना साध कर नित, ईश्वर-समधि में रहें लीन ।
निश्चय छूटें सब क्लेशों से, तन-कान्ति न होवे कभी क्षीण ॥
यह यमाचार्य का कहा ज्ञान, सुन नचिकेता हो गया धन्य ।
दोनों के हृदय समान हुए, सन्तुष्ट हुए होकर अनन्य ॥२८॥

यमदेव और नचिकेता का सम्वाद यही सम्पूर्ण हुआ ।
ईश्वर की महती कृपा हुई, यह ग्रन्थ हमारा पूर्ण हुआ ॥
जो सुकृती सज्जन यह विद्या निज अन्तर में बैठायेगें ।
धारेगें इसका ज्ञान हृदय में, विमल ब्रह्म सुख पायेंगे ॥२९॥

उठ जायेंगे जग से ऊपर, अध्यात्म ज्ञान निश्चित होगा ।
 यह लोक स्वर्ग सुख भोग, अन्त में मोक्ष-लोक-दर्शन होगा ॥
 यह ज्ञान, मुक्ति-सोपान बना अमरत्व लोक ले जायेगा ।
 छूटेगा, आवागमन चक्र, आत्मा अनन्त सुख पायेगा ॥३०॥

संयुति के स्वामी निश्चय ही पुत्रवत् उसे अपनायेंगे ।
 निज कृपा करें से बांह पकड़ कर अमृत लोक ले जायेंगे ॥
 यह पञ्चतत्त्व से निर्मित तन, अन्त में नष्ट हो जायेगा ।
 धन-धान्य धरा का छूटेगा, सब यहीं धरा रह जायेगा ॥३१॥

हे कर्मशील नर! ओ३म् स्मर, नित कृतकर्मी को कर स्मरण ।
 क्या हूँ, आया किस हेतु यहाँ, किसलिए मिला यह मानव तन ॥
 लाखों योनियां धूमकर, उनका दुख भोगकर आया है ।
 आत्मा का भारी पुण्य जगा, तब यह मनुष्य तन पाया है ॥३२॥

तप, त्याग, दान शुभकर्म, धर्म बस, मात्र यहीं कर पाओगे ।
 अपकर्म हेतु हैं बहुत योनियां, वहीं लौट फिर जाओगे ॥
 यदि यहाँ नहीं शुभ कर्म किया, तो निश्चय वहीं भेज देगा ।
 प्रतिकार न कुछ कर पाओगे, सर्वज्ञ यथावत् फल देगा ॥३३॥

उत्थान हेतु यह तन देकर, तुमको ईश्वर ने भेजा है ।
 सब साधन सुलभ शरीर बना, इन्द्रिय अरु ज्ञान सहेजा है ॥
 दैवीय नाव है नर शरीर, इससे भवसिन्धु तरण कर लो ।
 इसकी सम्पत्ति करो वितरित, जग-स्नेह-सुधा इसमें भर लो ॥३४॥

छल, द्वेष, दम्भ, दुर्गुण से भर, क्यों कलुषित करते निज काया ।
 साधन है साध्य नहीं यह जग, है नाशवान सारा माया ॥
 यदि नर शरीर पाकर भी, यह भवसिन्धु नहीं संतरण किया ।
 तब समझो नष्टप्राय जीवन, तुमने आत्मा का हनन किया ॥३५॥

अनुदार बने क्यों जीते हो, क्यों मन में पाप बसाते हो ।
 यदि बाँट न सकते सुख-सम्पत्ति, क्यों जग को दुखी बनाते हो ॥
 पर का उत्थान देख जलते, पर दुःखों से हर्षति हो ! ।
 हो मनुज या कि कुछ इतर योनि, उठतों को मार गिराते हो ॥३६॥

आपस में वैर, घृणा भरकर, जन-जन को यहाँ लड़ाते हो ।
 कूकर, शूकर से अधम कर्म करके, निज जन्म नशाते हो ॥
 अज्ञान तिमिर में लिप्त बने, आत्मा का पतन कर रहे हो ।
 सुख-भाग छीन कर औरों का, ईर्ष्या में सने जल रहे हो ॥३७॥

मर रहा मोह तम में ढंक कर क्या है रे यह तेरा जीवन ।
 ऊपर बनता है धर्मव्रती, भीतर कलुषित रखता है मन ॥
 क्या भला ! पाप के धन से, तेरा भला कभी हो पायेगा ।
 अपने जघन्य कृत्यों से तू, क्या शिक्षा देकर जायेगा ॥३८॥

थूकेगा यह जग करनी पर, वैतरणी में तू डूबेगा ।
 कुछ कर न सकेंगे मित्र-बन्धु, यम फांस दुःख निश्चय देगा ॥
 संसार-हेतु कर कर्मों को, वे धर्मतरी बन जायेंगे ।
 जो कुछ औरों को कर देगा, वे कर्म ही तुझे तारेंगे ॥३९॥

चेतना मार क्यों बुद्धि प्रभा की, नरपशु बनकर जीता है ।
 अब भी करले आत्मा के हित, जो बीत गया सो बीता है ॥
 उपकार करो तन, मन, धन से, वह बेड़ा पार लगायेगा ।
 अन्यथा शोक, संतप्त-डाह, लेकर ही जग से जायेगा ॥४०॥

पायेगा जन्म निकृष्ट योनियों में, पर दुर्गुण मत विलोक ।
 तड़पेगा ताप भरा जीवन, मरणोपरान्त भी महाशोक ॥
 अतएव मनुजता धारण कर, पशुता को परे हटा दे तू ।
 कर ध्यान शक्तिशाली प्रभु का, उसमें निज चित्त लगा ले तू ॥४१॥

अध्यात्म ज्ञान की प्रतिभा से, आत्मा का अन्धकार हरले ।
 मरना ही है तो अच्छा कर, उत्तम करनी करके मरले ॥
 कर ओ३म् नाम का जप निश-दिन, पाप की रेख छोटी कर दे ।
 शरणागत हो जा तू उसकी, जीवन में ज्योति प्रभा भर ले ॥४२॥

हो मानव योनि सफल तेरी, ऊपर उठ वे प्रभु गह लेगे ।
 अपना पावन प्रकाश देकर, ज्योतित तव जीवन कर देंगे ॥
 चढ़ त्वरित मुक्ति-सोपानों पर, ऊपर उठता ही जायेगा ।
 आत्मा के क्लेश मिटेगे सब, अमरत्व परम पद पायेगा ॥४३॥

॥ इति केन और कठोपनिषद् विद्या पर आधारित मुक्ति-सोपान काव्य ॥

॥ देवनारायण तिवारी ॥

पौष पूर्णिमा श्रीमन् महाराज विक्रमादित्य का सम्वत् २०६७
 बुधवार दिनांक १९ जनवरी सन् २०११ ईसवी



पं० देव नारायण तिवारी

जन्म अश्वनि शु० ५ सम्बत् २००० विक्रमी

(५ अक्टूबर सन् १९४३ ई०)

जन्म स्थान : ग्राम + पो० डेहरियावाँ

जनपद- फैजाबाद (३० प्र०) अवध

पूज्यनीया माता - श्रीमती चन्द्रकला देवी

पिता - श्री हरि प्रसाद तिवारी

सन् १९६५ में आर्य समाज में प्रवेश

लगभग ३० वर्षों से आर्य महोपदेशक

सम्पर्क :

आर्य समाज कलकत्ता

१९, बिधान सरणी, कोलकाता ७०० ००६

दूरभाष- ०९८३०४२०४९६